संपादक
यशदेव शल्य – मुकुंद लाठ

प्रबन्ध संपादक
अंबिकादत्त शर्मा

# उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

वर्ष 23, अंक 1
जनवरी, 2009

वर्ष 23 अंक 1 जनवरी, 2009

# उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

प्रबन्ध-सम्पादक

अम्बिकादत्त शर्मा

दर्शन प्रतिष्ठान

जयपुर

## परामर्शदाता

1. **गोविन्दचन्द्र पांडे,** एम 2/4, विश्वविद्यालय परिसर, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन-456010
2. **रमेशचन्द्र शाह,** एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल-462003
3. **अशोक वाजपेयी,** सी-60, अनुपम को-आपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली-96

## संपादक

1. **यशदेव शल्य,** पी-51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015, दूरभाष 2707493
2. **मुकुन्द लाठ,** ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर-302006 दूरभाष 2294737 / 2293725
3. **अम्बिकादत्त शर्मा,** बी.डी.एस. 2, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर-470003 दूरभाष 07582-220587



**वार्षिक शुल्क**
व्यक्तिगत : रु. 50/-
संस्थाएं : रु 100/-

**आजीवन शुल्क**
व्यक्तिगत : रु. 500/-
संस्थाएं : रु 2000/-

यशदेव शल्य एवं मुकुंद लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी-51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015 के लिए विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर से लेजर कम्पोज़िंग तथा के. बी. एस. प्रिण्टर्स, जयपुर द्वारा मुद्रित।

# अनुक्रमणिका


| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | क्या है? क्या नहीं? एक बातचीत (चौथी बैठक) | मुकुंद लाठ | 1 |
| 2. | भारतीय दर्शनों में विविध दर्शन-संप्रदाय | नारायणशास्त्री द्रविड़ | 41 |
| 3. | प्रमाणमीमांसा : दार्शनिक चिन्तन का आरम्भबिन्दु | सच्चिदानन्द मिश्र | 53 |
| 4. | संस्कृति और दर्शन | यशदेव शल्य<br>दयाकृष्ण | 81 |
| 5. | दो उन्मीलन गोष्ठियों में प्रस्तुत विचार— | | |
| | शल्य जी और कला का सत्य | सरला कल्ला | 85 |
| | चित्र एवं सत्य | राजेन्द्रस्वरूप भटनागर | 90 |
| 6. | पुस्तक समीक्षाएँ | | |
| | मुकुंदजी का कर्म-चिन्तन | यशदेव शल्य | 91 |
| | शल्यजी की समसामयिक चिन्ताएँ | रामेश्वर मिश्र पंकज | 119 |

# लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 1. | संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित) | : | मुकुंद लाठ | 100.00 |
| 2. | धर्म-संकट | - | मुकुंद लाठ | 200.00 |
| 3. | कर्म-चेतना के आयाम | - | मुकुंद लाठ | 250.00 |
| 4. | मूल्यतत्त्व-मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित) | - | यशदेव शल्य | 200.00 |
| 5. | चिद्विमर्श | - | यशदेव शल्य | 175.00 |
| 6. | तत्त्व-चिन्तन | - | यशदेव शल्य | 200.00 |
| 7. | चित् की आत्म-गवेषणा | - | यशदेव शल्य | 250.00 |
| 8. | काव्य-विमर्श | - | यशदेव शल्य | 250.00 |
| 9. | मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन-धाराएं | - | यशदेव शल्य भगवती | 150.00 |

चौथी बैठक

# क्या है? क्या नहीं है? – एक बातचीत

मुकुन्द लाठ

(पिछली बैठक के कुछ दिनों बाद की बात है। मित्र-मण्डली में 'होने' के प्रश्न को लेकर फिर से बातचीत शुरु हो जाती है। सब के सब अब इस विषय पर कुछ कुछ पढ़ने भी लगे हैं। पृथु ने पिछली बार ऋग्वेद के एक सूक्त से बात को आगे बढ़ाया था। अबकी बार वह एक उपनिषद् से चर्चा का सूत्रपात करता है)

**पृथु** : कल मैं एक उपनिषद् देख रहा था – बृहदारण्यक उपनिषद्। बहुत कुछ तो ठीक समझ में नहीं आता है, रहस्य-भरी भाषा में लिखा लगता है, जिसकी कुंजी कहीं ढूँढनी पड़ेगी। पर बहुत कुछ समझ में आता है और फिर भी एक गंभीर रहस्य रह जाता है, क्योंकि बात केवल सोचने-समझने की नहीं, किसी गूढ़ प्रज्ञा या अंतर्दृष्टि की जान पड़ती है।

पर वहाँ एक प्रसंग में जो चर्चा है उसे यहां उठाना चाहता हूं। छोटा सा प्रसंग है, चर्चा भी अपने आप में बड़ी संक्षिप्त है, पर हमने जो आपस में बातचीत छेड़ी है उसमें बड़े पते की है – परम सत् की बात है। ऐसा परम सत् जो हमारा भी स्वरूप है – हमारी आत्मा है। उपनिषद् में उसी की चर्चा है, और बात ऐसे सच्चे स्वर में कही गई है मानो सीधी अनुभव की बात हो। बात ब्रह्म की है – वहीं से शुरु होती है। हमारे यहां ब्रह्म के 'होने' को परम सत् माना ही गया है, पर यहां यह दिखता है कि हमारे ही होने, हमारे होने का परम भाव – हमारी आत्मा – इसका भी वह सबसे बड़ा और सबसे घनिष्ठ प्रमाण है। ऐसा प्रमाण जिसे हम अपने गूढ़ अनुभव में साक्षात् *पा* भी सकते हैं। मैं समझता हूं कि यह चर्चा हमारे सोचने को एक नई दिशा दिखा सकती है। नया आयाम भी दे सकती है, शायद।

हम देख ही चुके हैं कि 'क्या है', इस प्रश्न का उत्तर खोजने के लिये हम अपने सामने दिखती चीज़ों तक नहीं रुक सकते – यों तो कोई जवाब ही नहीं बनेगा – हमें इससे ऊपर उठना ही पड़ता है। दिखती हुई चीज़ों से उठ कर सामान्यों में आना पड़ता है। पर सामान्य दिखते नहीं हैं, दिख सकते ही नहीं हैं, क्योंकि देश-काल में नहीं होते, विचार की वस्तु होते हैं। पर उनके बिना हमारा काम नहीं चलता – हमारी भाषा में घर करते हैं सामान्य, और भाषा के बिना न हमारा व्यवहार बनता है, न 'क्या है' की कोई बात ही की जा सकती है। भाषा-व्यवहार को ध्यान में रखें तो यह सोचा जा सकता है कि सामान्य एक सुविधा-देती

कल्पना की सन्तान हैं, उनके 'होने' की बात उनके भाषा-प्रयोग के बाहर कुछ नहीं, न की जानी चाहिये। लेकिन मैं समझता हूं कि सामान्य का 'होना' 'होने' के एक उच्चतर धरातल की ओर संकेत करता है, जो मुझे लगता है, 'होने' की समझ को भी एक नई और ऊपर-उठती सीढ़ी पर रखता दीखता है। उपनिषद् में मुझे यह संकेत भी मिला है।

यह सोचना सहज लगता है कि होती तो इन्द्रिय-के-देखी विशेष चीज़ें ही है, सामान्य उनके आधार पर खड़ी की गई बुद्धि-कल्पना की अवधारणायें हैं, वास्तव में कुछ नहीं हैं। तभी सामान्य देश-काल में नहीं होते – जैसा कि 'होती-हुई चीज़ें' होती हैं। पर हमारी चर्चा में यह बात आ चुकी है कि इन्द्रियां गूंगी होती हैं – जो देखती हैं, बता नहीं पातीं, न अपने आप को देख पाती हैं। इन्द्रियों को क्या दिखा यह तो बुद्धि या विचार ही बताता है – क्योंकि विचार आत्म-चेतन होता है, अपने देखे को देखता-परखता चलता हैं। और विचार सामान्य को ही देखता है। अगर बुद्धि और विचार देखते नहीं, कल्पना ही करते हैं तो फिर हमारा सारा देखना-सोचना ही कल्पना हो जाता दिखता है मुझे। और अगर हमारा सारा सोचना कल्पना ही है तो फिर 'है' कुछ भी नहीं - हम किसी इन्द्रजाल के सर्वव्यापी व्यूह में फँसे हैं, जिससे निकल ही नहीं सकते। भयावह स्थिति है हमारी : हम अभिशप्त हैं – झूठ के जंजाल में रहने को अभिशप्त। यह बात मेरे तो बिलकुल गले नहीं उतरती। पर हम विचार को कल्पना ही क्यों मानें – इसके लिये तो हम अभिशप्त नहीं हैं! हम विचार को सत्यद्रष्टा क्यों न मानें? पिछली बार शिखा ने तो विचार को सत्यद्रष्टा ही नहीं, सत्य-स्रष्टा भी कहा था। मैं मानता हूं कि इस बात को मानने में बड़ी दुविधा होती है। यह जगत् हमें अपने विचार से स्वतन्त्र लगता है – हम कुछ भी सोचें, यह जो है वही होता है, सब के लिये होता है, और हमारे सोचने से निर्विकार। यह सामने पड़ा पत्थर, यह धरती जिस पर मैं हूं, इसका होना मेरे सोचने की बाट नहीं जोहता! जो है, अपने आप में स्वायत्त है, अपनी योजना से चलता हुआ है! हम इस *पर* विचार कर सकते हैं, विचार से इसको *बनता* नहीं देख सकते। हम कुछ भी सोचें, यह अपने आप में, अपने 'होने' में रहता है, हमारे सोचने से लापरवाह। हम अपने विचार से इसे समझ कर इसे अपने काम में भी ले सकते हैं – और यहां सामान्य का लाभ दिखाई देता है, सामान्य के बिना कार्य-कारण की अवधारणा नहीं बन सकती और चीज़ों को काम में नहीं लिया जा सकता।

पर हम फिर भी कह सकते हैं – और सहज लोक-बुद्धि यही मानती भी है - कि चीज़ें अपने आप में सामान्य नहीं होतीं, अपनी विशिष्टता में ही रहती हैं। सामान्य विचार की ज़रूरत है, पर हम पाते इस जगत् को विचार से अलग ही हैं, अपने आप में दिया हुआ। और इसका साक्षात् इन्द्रियां करती हैं।

यों सोचो तो यही जान पड़ता है कि सामान्य विचार की कल्पना ही है - क्योंकि सामान्य इन्द्रिय-बोध के परे है। हम इन्द्रिय-बोध को ही 'होने' का प्रमाण मानना चाहें तो यह सोचना हमारे लिये अनायास सुलभ है कि जगत् का साक्षात् बोध तो इन्द्रिय को ही होता

है और विचार उसीको आधार बना कर सामान्यों की कल्पना करता है। पर मुझे लगता है कि शिखा ने विचार को स्रष्टा जो कहा, उस बात में दम है। मैं उस पर सोच रहा था तो एक विचार आया जहां सामान्य मुझे स्रष्टा के रूप में दिखा भी। कैसे, यह बताता हूं। बात को अपनी तरह से कह कर समझाता हूं। पर पहले एक प्रश्न की ओर ध्यान दो। हम इन्द्रिय को ही 'होने' की पहली और आख़िरी कसौटी क्यों मानें? फिर तो 'क्या है' का प्रश्न भी 'है' नहीं रहेगा। अगर विचार को और सामान्य जैसी विचार-दृष्ट और विचार-निष्ठ वस्तुओं को माने बिना 'क्या है' की बात नहीं हो सकती तो विचार की अपनी पकड़ में भी सत्य को देखना चाहिये। इन्द्रिय-बोध को ही 'है' का साक्षी मान कर वहीं ठिठक कर रुक नहीं जाना चाहिये।

सामान्यों को भी सत् समझ कर उनकी ओर ध्यान दो। उनका अपना 'होना' बड़ा विचित्र है – सामान्य सामने-दिखती चीज़ों से बिलकुल अलग होते हैं – देश-काल के ही बाहर नहीं होते, अजीब तरह से एक-दूसरे में समाते हुए छोटे और बड़े भी होते हैं। एक बात यह देखो कि सामान्यों में एक सहज आरोह है। छोटे सामान्य अपने से बड़े, अपने से अधिक समावेशी सामान्यों में समाते चले जाते हैं : घड़ा बरतन-सामान्य में, बरतन-सामान्य निर्मित-वस्तु-सामान्य में आदि; और यह सिलसिला किसी सब-को-घेर-लेते सत्ता-सामान्य में समाविष्ट दिखाई देता है – ऐसा सामान्य जो सब सामान्यों को अपने भीतर समो लेता है। उसे देख सकने की बात तो दूर, दूसरे सामान्यों की तरह उसे किसी और सामान्य से अलग – व्यावृत्त – भी नहीं किया जा सकता। वह परम सत् है, अखण्ड एक है। पर दूसरे सामान्यों का आधार भी है – सामान्यों के समावेशी आरोह में यह स्पष्ट संकेत है कि उसी परम सामान्य में से दूसरे सब सामान्य निकलते हैं। पर वह देश-काल से ही नहीं, वर्णन से भी परे है, क्योंकि वर्णन तो उन्हीं सामान्यों का हो सकता है जो एक-दूसरे से अलग – व्यावृत्त – किये जा सकते हैं। यों वह परम सत् अवर्णनीय है। पर जो वर्णनीय है, उसका आधार भी वही है, उसी में से सब अलग और सीमित हो कर उद्भूत होते हैं। उसका वर्णन-निर्धारण न हो सकता हो, पर सामान्यों का समावेशी आरोह उसकी ओर इंगित तो करता ही है। वह 'परम' और वर्णन से परे इसलिये है कि वह बस 'है' जिसमें 'क्या' को बताता, औरों से व्यावृत्त करता कोई विशेषण नहीं जोड़ा जा सकता।

(कुछ हैरानी के साथ, मानो मन ही मन सर झटकते हुए) : सामने दिखती चीज़ों को पीछे छोड़ दो और सामान्य, परम-सामान्य जैसी बातों पर विचार करने लगो तो लगता है अजीब दरवाज़ों के पल्ले खुल गये हैं, कहां जा रहे हैं, सामने कहीं किसी ठिकाने को ले-जाता रास्ता है या भूलभुलैया, पता नहीं लगता। जैसे चोर-मिट्टी पर पाँव पड़ गया हो और धरती ही खिसक कर जाने कहां चल पड़ी हो। पर 'जगत् क्या है'?, 'हम क्या हैं'?, जगत् से हमारा सम्बन्ध क्या है'?, क्या इन्द्रियों से जो दिखता है, वही है?, ऐसे प्रश्न पूछे बिना भी जीवन एक लकीर सा जान पड़ता है। 'होना क्या है'?, यह जिज्ञासा हमारे 'होने' की ही मांग

है – बड़े गहरे में हमें पकड़ती है यह मांग। हमारा विचार करना, 'क्या है', 'क्या होना चाहिये', ऐसे प्रश्न उठाना इस खोज का सम्बन्ध ज़रूर हमारे किसी गहरे स्वरूप से है, हमारे मामूली आपे के पर्दे के पीछे बैठे हमारे सच्चे स्वरूप से! या कहो, हमारी *आत्मा* से! पर यह भी दिखता है कि वह आत्मा मेरी – मुझ व्यक्ति की – आत्मा नहीं है, व्यापक है, हमारे मनुष्य होने की आत्मा है – क्योंकि प्रश्न, कल्पना, विचार हम सब में है, मनुष्य होने के नाते है। अपने बेबस से बहते-हुए आपे से सर उठाओ तो हमारा अंतर्मन सहज ही विचार का रास्ता लेता है। कहां ले जाता है समझ में नहीं आता। विचित्र जान पड़ता है हमारा अंतःस्वरूप! कैसा है उसका होना? मैं समझता हूं, यही हमारे लिये जड़ का प्रश्न है? क्या है हमारी आत्मा? यही प्रश्न उपनिषद् में उठाया गया है और याज्ञवल्क्य इसका उत्तर देते हैं। लगता है याज्ञवल्क्य ने रास्ते की थाह पाई थी – कहीं ठिकाने पहुँचे थे।

याज्ञवल्क्य आत्मा को ब्रह्म बताते हैं – आत्मा को ही नहीं, सब कुछ को ब्रह्म बताते हैं। क्या है ब्रह्म? मैं अभी सामान्य की बात कर रहा था। क्या ब्रह्म को हम उस तरह का परम सामान्य कह सकते हैं जिसकी हम बात करते आये हैं? ऐसा लगता नहीं है। क्योंकि ब्रह्म आत्मा का और सब कुछ का स्वरूप ही नहीं है, वह जो 'है' उसका भीतर से नियमन करनेवाला – अंतर्यामी - भी है। पर क्या हम सामान्य के बारे में ऐसा कह सकते हैं? परम सामान्य या सत्ता-सामान्य के बारे में भी नहीं कह सकते – उसे नियमन करनेवाला अंतर्यामी कैसे कहेंगे? यह सामने देखो वह मेज़ इस मेज़ से छोटी है, यहां ज़मीन थोड़ी गीली है, उधर वहां देखो, वहां भी थोड़ी गीली है; तो हम छोटापन, गीलापन, थोड़ापन, इन सामान्यों की बात कर सकते हैं – पर इनके अपने 'होने' की ही बात करना बेमानी लगता है – अंतर्यामी होने की बात तो बहुत दूर! ये तो विचार की कल्पना ही लगते हैं। ऐसे सामान्यों को लो तो अचंभा नहीं कि सामान्य बुद्धि की कल्पना ही ठहरता है। (फिर अचानक एक सूझ के साथ) : पर एक और तरह के सामान्य की बात सोचो – जैसे गाय, घोड़ा। गाय, घोड़े सामान्य होते हैं – हम कहने को कह सकते हैं कि गाय, गाय, गाय, यों एक-सा-पन देखते हुए हम सामान्य की कल्पना करते हैं : गाय-सामान्य और उसी तरह घोड़ा-सामान्य। पर गाय और घोड़े एक-से होते और जनमते ही कैसे हैं? इनका कोई अदृष्ट सामान्य तत्त्व है जो इन्हें रूप देता है, जिसके बिना ये होते नहीं – वह रूप नहीं लेते जो ये लेते हैं। इनका कोई पर-सामान्य होता है – या सत्-सामान्य कहो - जो बुद्धि-कल्पना का सामान्य नहीं है, पर वास्तव है। ये कैसे हों इसका वह नियमन करता है, और वह एक-एक-एक गाय-घोड़े को एक-सा देखती हमारी कल्पना की उपज तो नहीं हो सकता। मैंने अभी घड़ा-सामान्य और बरतन-सामान्य जैसे सामान्यों की भी बात की थी। ये सामान्य साफ़ ही कविता-सामान्य जैसे हैं – इनका एक अरूप तत्त्व हमारी कल्पना में होता है जो इनके रूप को संभव करता है, उन रूपों का 'नियमन' भी करता है – तभी उनकी घड़े या बरतन के रूप में पहचान और परख होती है। यों जगत् को रूप देती, उसका नियमन करती, एक बीज-रूप सामान्य पर-

सत्ता की बात की जा सकती है जिसे परम चेतना भी कह सकते हैं, जो अदृष्ट रह कर दृष्ट जगत् को रूप देती है, उसका नियमन करती है। याज्ञवल्क्य जगत् को उस परम का *शरीर* कहते हैं। हममें भी वही चेतना रूप लेती है। इसका इंगित हम अपनी आत्मचेतना में देख सकते हैं जो हमारे व्यक्ति-भाव से ऊपर उठी हमारे व्यक्ति-भाव को देखती है, उसे दूसरे व्यक्तियों का समान-धर्मा भी पाती है। हमारे अपने अपने व्यक्तित्व में जो व्यक्ति-भाव की सामान्यता है वह किसी ऊर्ध्व अरूप, अव्यक्ति-सत्ता का रूपायन ही हो सकता है – जैसे गायों का और घोड़ों का। यही हम जैसे हैं, वैसे होने का 'नियमन' है। पर हम आत्मचेतन हैं तो इस बात का इंगित भी पा सकते हैं – क्योंकि हममें व्यक्ति-भाव के साथ इस भाव से ऊपर-उठी, इसे देखती आत्मचेतना भी है। पर एक बात और सोचो। आत्मचेतना अपनी ओर तो देखती है, पर यह देखना अपने को नहीं देख सकता – देखे तो दृश्य हो जाता है। या यों कहो कि द्रष्टा को हम नहीं देख सकते। उपनिषद् यही कहता है। वह उस परम न-दिखनेवाले द्रष्टा को हमारी आत्मा बताता है। स्पष्ट है कि इन्द्रिय तो क्या, बुद्धि और विचार भी दृश्य हो सकते हैं तो ये उस दृष्टा को नहीं देख सकते। पर उपनिषद् में कही गई सबसे बड़ी बात यह है कि हमारी आत्मा जो द्रष्टा-रूप ब्रह्म है उसे हम *पा* सकते हैं – बुद्धि या विचार से नहीं, पर अपने भीतर अपने ही ब्रह्म हो जाने से। हम ब्रह्म को ब्रह्म हो कर पा सकते हैं – और यों 'जान' सकते हैं, क्योंकि हम भी वास्तव में, अपनी सच्ची सत्ता में वही हैं।...

(अनुभूति की ओर देखते हुए, जो इस भूमिका के अति विस्तार के कारण उतावली दिख रही थी और लग रहा था कि टोकने ही वाली है) : लेकिन बात की भूमिका और नहीं बढ़ाऊँगा, नहीं तो अनुभूति पिछली बार की तरह एकदम से टोक देगी – उसका हाव-भाव यही कह भी रहा है। भूमिका की टोकरी अलग रख कर, उपनिषद् के जिस प्रसंग की बात कर रहा हूं उसे पढ़ कर सुनाता हूं। जानता हूं, तुम सब इस पर अपनी ही तरह से सोचोगे।

एक प्राचीन ऋषि थे, याज्ञवल्क्य। हम सब ने उनका नाम सुना है। बृहदारण्यक उपनिषद् में उनसे कुछ प्रश्न पूछे जाते हैं। याज्ञवल्क्य प्रश्नों के उत्तर देते हैं – प्रश्न और उत्तर सुनने और सोचने लायक हैं। (काग़ज़ निकाल कर पढ़ता है) :

**एक दिन उषस्त चाक्रायण ने याज्ञवल्क्य से पूछा : याज्ञवल्क्य, जो साक्षात् अपरोक्ष भाव से ब्रह्म है, जो सबके अंतर में स्थित आत्मा है, उसे मुझे बताओ। याज्ञवल्क्य ने कहा, 'तुम्हारी ही आत्मा सबके अंतर में स्थित है'। 'कौन सी है वह आत्मा, याज्ञवल्क्य?' 'तुम्हारी जो आत्मा तुम्हें प्राणवायु से प्राणित करती है, वही सबके अंतर में है; तुम्हारी जो आत्मा तुम्हें अपान-वायु से अपानित करती है, सबके अंतर में वही है; तुम्हारी जो आत्मा तुम्हें व्यान-वायु से व्यानित करती है, वही सबके अंतर में है; तुम्हारी जो आत्मा तुम्हें उदानवायु से उदानित करती है, वह सबके अंतर में है। वही वह आत्मा है जो सबके अंतर में है। फिर उषस्त चाक्रायण ने कहा, 'जैसे यह बताते हैं, "यह गाय है, यह घोड़ा है", ऐसे बताने पर ही बात बताई गई होगी; जो साक्षात्, अपरोक्ष रूप से ब्रह्म है, जो आत्मा है,**

**सबके अंतर में है, उसे मुझे इसी तरह बताओ – जिसके लिये तुमने कहा कि यह तुम्हारी आत्मा सब के अंतर में है, वह कौन सी है, याज्ञवल्क्य, कौन सी है वह जो सभी के अंतर में है?' 'दृष्टि का द्रष्टा देखा नहीं जाता; न श्रुति का श्रोता सुना जाता है; मनन के मन्ता का मनन नहीं किया जाता; न ज्ञान के ज्ञाता का ज्ञान होता है – यह है तुम्हारी आत्मा जो सबके अंतर में है; इससे भिन्न जो है वह आर्त है (दुखी है)।' इतना सुन कर उषस्त चाक्रायण चुप हो रहा।**

**फिर एक दिन याज्ञवल्क्य से कहोल कौषीतकेय ने पूछा, 'याज्ञवल्क्य, जो साक्षात्, अपरोक्ष भाव से ब्रह्म है, जो सबके के अंतर में आत्मा है, उसे मुझे बताओ – ऐसी आत्मा जो सबके अंतर में है, वह कौन सी है, याज्ञवल्क्य?'। 'जो सबके अंतर में आत्मा है वह न भूखी होती है, न प्यासी; वह शोक, मोह, जरा, मृत्यु के परे है। ऐसी उस आत्मा को जान कर ब्राह्मण पुत्र धन और लोक की एषणा से उठ कर भिक्षाचारी हो जाते हैं। जो पुत्र की एषणा है वही वित्त की एषणा है; जो वित्त की एषणा है वही लोक की एषणा है – ये दोनों एषणायें एषणायें ही हैं, इसलिये ब्राह्मण को चाहिये कि पाण्डित्य से विरक्त हो कर बाल्य-भाव अपनाये; फिर पाण्डित्य और बाल्य-भाव दोनों से विरक्त हो कर मुनि हो जाये; और जो मौन और अमौन दोनों से विरक्त हो रहे वह ब्राह्मण ब्राह्मण काहे से होगा? जिससे होगा उससे वही होगा (जो उसकी आत्मा है) – उससे भिन्न जो वह है, वह आर्त है (दुःखी है)। यह सुन कर कहोल कौषीतकेय चुप हो रहा।**

(पृथु प्रसंग को दुबारा, फिर अनुरोध पर तिबारा पढ़ता है। फिर टिप्पणी करता है) : उदान, व्यान आदि प्राण-वायु के ही अलग रूप हैं – इनमें भेद होगा, पर उस भेद में यहां जाने की ज़रूरत नहीं। पते की बात यहां यह है कि ब्रह्म को सब के अंतर की आत्मा कहा गया है। अर्थात् हम सब में जो व्यक्ति-व्यक्ति का भेद है जिसे हम अपना आपा – अपना आत्म – जानते-समझते हैं, वह हमारे 'परम होने' के – हमारे अंतरतम के 'होने' के - एक अभेद में समोया हुआ है। वही हमारा सच्चा 'होना' है, जिसे हम पा सकते हैं।

इसी प्रसंग में कुछ आगे ऐसे ही शब्दों में ब्रह्म को बाहर के आँखों-दिखते जगत् की भी आत्मा कहा गया है। 'आत्मा' शब्द का ही प्रयोग वहां भी है, आत्मा को बाहर-भीतर सब कुछ का 'होना' कहा गया है – भीतर से चलानेवाला, नियमन करनेवाला 'अंतर्यामी' कहा गया है। पर याज्ञवल्क्य ही के शब्दों में सुनो, वे क्या कहते हैं : **'जो सर्व भूत में रहता हुआ सब का अंतः है, पर जिसे सर्व भूत नहीं जानते, फिर भी जिसके सर्व भूत शरीर हैं, जो सर्व भूत में रहता हुआ उनका नियमन करता है – वही आत्मा तुम्हारा भी अंतर्यामी है, अमृत है'।**

(पृथु और भी कुछ कहना चाहता है पर अनुभूति उसे टोकती हुई बीच में ही बोल पड़ती है)।

**अनुभूति :** पृथु, तुम भी इन दिनों कहां कहां की दौड़ लगाने लगे हो! मुझे याद है, तुम्हीं ने यह होने-नहीं होने की चर्चा एक दिन अचानक उठा दी थी – कहीं पहाड़ से लौट कर आये थे। अब अपने ही सवाल को तुम ऋषि-मुनियों तक ले जा रहे हो। पहले वेद के किसी ऋषि को ला खड़ा किया था जो एड़ी से चोटी तक प्रश्न ही प्रश्न से भरा था, और अब उपनिषद् के सब-कुछ-जानते याज्ञवल्क्य को ले आये हो। याज्ञवल्क्य का नाम मैंने भी सुना है। वे ही तो हैं जिन की दो पत्नियां थीं, जिनमें एक थीं मैत्रेयी। जब याज्ञवल्क्य संन्यासी हो कर घर छोड़ कर जाने लगे तब अपनी धन-सम्पत्ति दोनों पत्नियों में बाँटनी चाही। तब मैत्रेयी ने कहा कि यह तुम्हारा दिया सारा धन ले कर, या पृथ्वी की भी समूची सम्पत्ति पा कर, क्या मैं अमर हो जाऊँगी? ऐसा कुछ पा कर क्या करूँगी जिससे अमर नहीं हो सकती? अब समझ में आया कि वह उसी आत्मा को पाना चाहती थी जिसे याज्ञवल्क्य ने 'अमृत' कहा है। मैत्रेयी की उस बात को मैं भूल नहीं सकती। काश, मैं भी यह बात कह सकती! पर सोचती ही हूं, कह नहीं सकती। पृथु, यह बताओ कि क्या मैत्रेयी ने भी याज्ञवल्क्य के साथ संन्यास ले लिया था? पर जो भी हुआ हो, याज्ञवल्क्य की इन बातों से लगता है कि यहां याज्ञवल्क्य मैत्रेयी के प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं : हमें क्या पाना चाहिये, कैसे पाना चाहिये, उस 'क्या' का हम से सम्बन्ध क्या है। याज्ञवल्क्य बता रहे हैं कि जिस आत्मा को हमें पाना है वह हमारे साधारण आठ पहर के स्वरूप में अंतर्गूढ़ हमारा वास्तव स्वरूप है। याज्ञवल्क्य ठीक ही कहते हैं कि हमारे अनुभव का आठ-पहरी स्वरूप तो 'दुखी आत्मा' है। अपने ही वृथा, अकारथ प्रपंचों में उलझा हुआ।

(कुछ और सोचते हुए, क्षण-भर बाद) : पर छोड़ो इस बात को। तुम्हारा उपनिषद् सुनते हुए एक बिलकुल दूसरी बात जो मेरे मन में तैर रही थी, बताती हूं। वेद का सूक्त कहनेवाले तुम्हारे उस पुराने ऋषि में और याज्ञवल्क्य में कितना बड़ा अंतर है! कितनी फाँक है दोनों में! एक जैसे सवाल ही सवाल है और दूसरा सरासर जवाब। वेद के सूक्त में एक उत्तर-से-रीते प्रश्न की चुभती-कचोटती आकुलता शब्द-शब्द में भरी है। उपनिषद् में वह कहीं नहीं है – वहां तो उत्तर ही आगे आता है – ऐसे भरोसे के साथ दिया गया उत्तर कि कोई प्रश्न मानो उसे छेड़ नहीं सकता, टस से मस नहीं कर सकता। पर एक बात कहूंगी। वेद के ऋषि में जो प्रश्न की घिरती हुई गूँज है उसे हम सब अपने भीतर सुन सकते हैं : याज्ञवल्क्य ने ठीक ही कहा है कि हमारी आत्मा आर्त है, पर यह प्रश्नों से आकुल भी है। मुझे तो एक प्रश्न सदा सताता रहता है : यह सृष्टि, जिसके हम भी हिस्से हैं, जिसमें हम अपने छोटे-बड़े – पर थोड़ा भी सोचो तो, तुच्छ से – प्रयोजन साधते रहते हैं –– क्यों है यह सृष्टि? पर नहीं भी तो हो सकती थी! किस लिये हुई? हमें आर्त रखने के लिये, प्रश्न से व्याकुल रखने के लिये तो नहीं हो सकती! पर क्या इसका कोई विराट्, कोई निर्मल-गहन, कल्याणमय प्रयोजन भी है? अगर सृष्टि का सचमुच कोई ऐसा प्रयोजन है तो इसकी संभाल रखनेवाला, इसका नियमन करने वाला भी कोई होगा जो इसका धारण करता है। वेद के

ऋषि के मन में यही सवाल उन्हें बुरी तरह साल रहा था। पर ऋषि हो या हम जैसा मामूली सा कोई, हम सृष्टि के प्रयोजन को जानते नहीं। जानें भी कैसे, क्या आधार होगा, क्या प्रमाण होगा हमारे जानने का? वेद के ऋषि के भीतर यह सवाल काँटा बन कर चुभता दिखता है कि क्या इस सृष्टि की सचमुच कोई सँभाल रखता भी है? ऐसा कोई जो शक्तिमान होने के साथ सहृदय भी हो, संवेदना में बसा हो। ऐसा कोई क्या इस विचित्र सृष्टि का सचमुच धारण करता है? क्या कोई औचित्य-बोध, कोई सहानुभूति, कोई बृहत् और भव्य, मंगलमय प्रयोजन इस सृष्टि के पीछे है – कोई हृदय-मन-में-उतर-सकता उद्देश्य-बोध? हम कैसे इस बात को जान सकते हैं? कोई कहे कि है तो मान भी कैसे सकते हैं – हमारा अनुभव तो उलटी ही बात कहता है। वेद के ऋषि की बात बिलकुल सच जान पड़ती है : लगता तो नहीं है कि सृष्टि से परे परम-व्योम में इस सृष्टि की देख-भाल करनेवाला कोई अध्यक्ष है जो इस सृष्टि को जानता हो और इसे किसी सार्थकता के साथ चलाता हो। हम अनजान में भटके हुए हैरान-से यह जानना चाहते हैं कि ऐसा है क्या, पर कैसे जान सकते हैं? कैसे मान सकते हैं कि कोई चलानावाला, कोई नियमन करनेवाला है जो अपने काम के मर्म को जानता है, हमारे मर्म को पहचानता है? यह सवाल हमारे होने के भीतर ही हमें घाव बन कर सालता रहता है।

(अपनी बात में विरोध देख कर सोचते हुए, कुछ रुक कर) : तुम कहोगे, आज मैं संशय और सवालों के फेर में कैसे पड़ गई हूं! मैं तो पहले वेद के ऋषि में सवाल नहीं जवाब ही देख रही थी, याज्ञवल्क्य की सी मुद्रा में सृष्टि के क्यों का उत्तर मैं भी सामने रख रही थी! एक प्रेम-तत्त्व का दर्शन बुन रही थी और 'होने' के सारे पसारे को – या यों कहो कि 'होने' के सार को – उसी में लपेट लेना चाह रही थी! हां, यही कर रही थी मैं। और जो मैं कह रही थी, सचमुच वही सोचती भी हूं। मेरी समझ में सृष्टि के क्यों का और इसमें समोई वेदना का सचमुच एक उत्तर है जो मैंने दिया था। सृष्टि उस परम एक की अपने को पाने के लिये ही अपने से बिछुड़ने की पीर है। सवाल मुझे बहुत सताते हैं, पर सवालों के साथ साथ मुझमें यह उत्तर भी कौंधता रहता है कि प्रेम ही परम तत्त्व है। ऋषि के सूक्त में भी मुझे वही उत्तर दिख रहा था। उत्तर मुझमें पहले से ही झलकता रहा है – ऋषि की बात से समर्थन और पुष्टि का संतोष मिला था, लगा था मुझे जो बात सच लगती है, यों ही बेमानी सा ख़ामख़याल नहीं है।

(गंभीर, लगभग आत्म-लीन हो कर) : हममें हमारी इस रोज़ रोज़ की, आठ पहर की लकीर-चलती, धुँधली सी, अपनी चिंताओं-प्रपंचों में उलझी, सँकरी, सताई हुई सी चेतना से ऊपर एक चाह है, एक साध है जो बड़ा गूढ़ इशारा करती है। वह चाह जब चेतना में आ बैठती है तब मानो हम अपने आप को अपने सही, अपने विशुद्ध आपे में पाते हैं। उस आपे में गहरी, स्वच्छ झील के पानी की तरह भाव की और बुद्धि की – समझ की, सूझ की – निर्मलता होती है। अपने तुच्छ सरोकारों-से-ऊपर-उठी दृष्टि की एक व्यापकता फैलती

दिखती है, जिसमें आलोक तैर आता है, एक उजास की आँख का उन्मेष सा जाग उठता है। और वह आँख सचमुच कुछ देखती-जानती जान पड़ती है। बड़ी पैनी-पकड़ती सूझ उतार लाती है मन में। ऐसे आश्वासन के साथ मानो अपनी सच्चाई का ठप्पा अपने भीतर ही लिये हुए हो। पर उसकी एक झिपती-सी झलक ही हमें मिल पाती है, जो फिर हमारे आठ पहर के धुंध-भरे आत्म में खो जाती है। पर भीतर ही भीतर अपने रूप को पहचानने और पाने के लिये ललकती भी रहती है। उसी की प्रेरणा से मैंने प्रेम की बात की। पर मैंने जो कहा, बिजली की तरह कभी-कभी दिप जाती उस चेतना के इशारे को थोड़ा कुछ समझने की कोशिश भर है – वह भी अपनी छोटी सी बुद्धि और समझ से। मेरी बुद्धि में – और मेरे मन में भी – एक गहरा, उत्तर-हीन दुचित्तापन है जो उस समझ पर लगातार प्रश्न भी उठाता रहता है, और कभी जब भीतर का अँधेरा बढ़ता है तब बड़े घोर संदेह का तेवर ले लेता है। क्या आधार है मेरी अनहोनी सी समझ का? कोई उत्तर नहीं सूझता, कोई युक्ति आगे नहीं आती। प्रश्न प्रश्न रह जाता है। मेरा मन, मेरी बुद्धि जैसे मुझसे अलग, पराये कुछ हो जाते हैं, मेरे ही बोध को, उसमें बसी सूझ को समूल नकारते रहते हैं। यह भी सोचो : उस बोध को, उस उखड़ती सी झलक को मैं जानती ही कितना हूं, उसकी थाह ही कितनी पाती हूं? फिर जितना समझती हूं, सही समझती हूं क्या? यह बात मेरे मन मे हमेशा चुभती रहती है। मैं कुछ सोचती भी हूं, कुछ कहती भी हूं तो उस भरोसे के साथ, बोध की उस अटूट *निष्ठा* के साथ नहीं कह सकती जो याज्ञवल्क्य की बात में पूरी समाई हुई दिखती है। मैं तो आख़िर याज्ञवल्क्य की तरह सब कुछ छोड़ कर प्रेम-पुजारिन नहीं बन जा सकती! मीरा नहीं हो जा सकती! वेद का सवालों में डूबा ऋषि भी मेरे मन के बीचोबीच आसन जमाये बैठा रहता है। कुछ भी कहूं, कितने ही विश्वास के साथ कहूं, सवाल सताते हैं। हां, मन के किसी गहन में, मुझसे भी छुपी किसी गुफा में, किसी परम प्रेम की पुकार-जैसी सुनती हूं तो सोचती हूं प्रेम ही सब कुछ है, और मन कहता है कि संसार कुछ नहीं, तुच्छ है, उसमें जो कुछ सार है, सच्चा है, प्रेम ही है – वही होने का बीज है, होने का औचित्य है – होने का उद्देश्य है। पर मेरी आठ पहर की अस्त-व्यस्त चेतना भी मुझ पर छाई रहती है – मुझे चलाती तो वही रहती है। मेरा मन तो यहीं, इस संसार में, इसके व्यवहार में आकण्ठ डूबा रहता है, यहीं उलझा रहता है। कुछ सोचता है तो सवालों से बिंध जाता है। मैं जानती हूं कि जो सूझ मुझ में जागती है, जिसे मैं समझना-समझाना चाहती हूं, वह केवत बुद्धि-तर्क की बात नहीं है, पर मुझे तर्क की चोट सताती है और मैं अपने ही तर्कों से बार बार चोट खा जाती हूं, छलनी हो जाती हूं – उनके आघात का कवच कहीं नहीं पाती हूं, प्रति-तर्क ढूँढती रह जाती हूं।

(सतर्क सोचने की मुद्रा में आ कर, पर अपने में डूबे हुए) : देखो, याज्ञवल्क्य जो कह रहे हैं केवल तर्क-बुद्धि से नहीं कह रहे। ऐसा नहीं है कि उनकी बातों के पीछे बुद्धि-तर्क का अभाव है – उषस्त चाक्रायण – यह कैसा आजकल के नामों से बुलकुल अलग सा नाम है न! – वह जब कहता है कि मुझे सबके अंतर में रहती आत्मा को इस तरह दिखाओ जैसे

कोई गाय-घोड़े को सामने दिखा देता है, तो सहज भाव से कैसी गहरी युक्ति देते हैं कि यह नहीं हो सकता, और बताते हैं क्यों नहीं हो सकता – दृष्टि के द्रष्टा को देखा नहीं जा सकता, श्रुति के श्रोता को सुना नहीं जा सकता, मन के मन्ता का मनन नहीं किया जा सकता। आत्मा हममें ऐसा अन्तर्निगूढ़ है कि वह हमारे देखने, सुनने, सोचने के पीछे, हमारे इस सब व्यापार से बिलकुल परे है। मैं समझती हूं, याज्ञवल्क्य कहना यह चाह रहे हैं कि आत्मा हमारे सोचने-समझने जैसे सब व्यापारों के बिलकुल अन्तिम छोर से भी परे है। हमारा देखना, सुनना, सोचना उस तक पहुँच ही नहीं सकता। पर हमारा वास्तव, अंतर्गूढ़ *होना* वही है और उसे हम पा सकते हैं। कैसे? यह भी वे बताते हैं। एक गहरा असमंजस यहां खड़ा लगता है मुझे। उसकी बात करूंगी।

(एक सूझ के साथ) : पर मैं अपनी तरह से याज्ञवल्क्य की बात में उतर कर उसकी कुछ और थाह लेना चाहती हूं। पृथु ने अभी आत्मचेतना की बात की। आत्मचेतना चेतना के एक अद्भुत, अगाध आकाश में बसती है। हम अपने देखने को देखने की और फिर उसे देखने की, विचार पर विचार और फिर उस पर विचार करने की बात बार बार कर आये हैं – यह सिलसिला आत्मचेतना में सहज ही बनता दिखता है। हम यह भी कहते रहे हैं कि इसका कोई छोर संभव नहीं – यह प्रक्रिया सीढ़ी की तरह चढ़ती चली जाती है, या कहो कि अतल में उतरती चली जाती है, इसका कोई अंत नहीं दिखाई देता – संख्या के असंख्य क्रम की तरह, जहां किसी भी अंतिम कहलाती संख्या के आगे एक और जोड़ दिया जा सकता है; तभी संख्या का क्रम असंख्य, या अनंत होता है। मुझे लगता है कि याज्ञवल्क्य की बात को इस उदाहरण के संदर्भ में देखना चाहिये। संख्या के बढ़ते क्रम से बाहर कोई संख्या नहीं होती – क्रम अनंत होता है, अनंत नाम की कोई संख्या नहीं हो सकती जो क्रम से बाहर हो। पर देखती, सुनती, मनन-विचार करती चेतना के बारे में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि आत्मचेतना के ऊपर उठते सोपानों में इस *क्रम* से परे भी कोई सत्ता सचमुच *है*, क्रम का आक्षेप नहीं, वास्तव है। यही आत्मा की सत्ता है – या ब्रह्म की सत्ता कहो - जिसकी ओर यह क्रम बढ़ता है, पर जो क्रम से परे रहती है – जिसकी ओर क्रम इंगित करता है। यह सत्ता हमारे ही नहीं, सब कुछ के परे है – विचार, जिसकी दृष्टि विराट् है, उससे भी परे। तभी इसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता। पर यही सब कुछ का और हमारे भी अनुभव के एषणा-से-भरे, आर्त, पर सोचते-समझते आत्म का आधार है। आत्म का ही नहीं, जगत् का भी, सब कुछ का आधार है। उसी के होने से सब का होना है। पृथु ने अभी इस सत्ता का दूसरा इंगित दिया, आत्म की ओर से नहीं, जगत् की ओर से। उसने सत्-सामान्यों की बात की। वे बुद्धि की धारणा या कल्पना मात्र से अलग, अपने आप में होते हैं, और इन्द्रियों से दिखती हुई चीज़ों से ऊपर, उनके आधार के रूप में होते हैं – जीवत्व की तरह, जो हमारी बुद्धि-कल्पना नहीं हो सकती, या मनुष्यत्व की तरह, जिनके बिना जीवों, मनुष्यों का अस्तित्व - उनका जीव और मनुष्य के रूप में देश-काल में होना, सम्भव नहीं। इन सत्-

सामान्यों की स्थिति अशरीर चेतना में ही हो सकती है जो जगत् में 'शरीर' धारण करती है, जैसा कि याज्ञवल्क्य ने कहा। पर यह अशरीर चेतना हमारी व्यक्ति-गत चेतना नहीं है। वह सर्वात्म है। व्यक्ति-चेतना भी उसका शरीर ही हो सकती है – ठोस न सही, सूक्ष्म शरीर कहो; है तो वह भी देश-काल में ही, शोक, मोह, जरा, मृत्यु से ग्रस्त। *वह* चेतना ऐसी चेतना है जो बुद्धि की कल्पना नहीं है, बुद्धि से परे है – बुद्धि जिसकी कल्पना हो सकती है। इसे विशुद्ध चेतना, या चैतन्य, या चित् कह सकते हो। या याज्ञवल्क्य की तरह ब्रह्म कहो। यह चित् या ब्रह्म जगत् का आधार है – जगत् में अंतर्गूढ़ रह कर इसे रूप देता है, इसके होने का 'नियमन' करता है। यों हम अपनी व्यक्तिगत चेतना में भी और सत्-सामान्य में भी उस परम चेतना या चित् – ब्रह्म – का इशारा पा सकते हैं। उस ऊर्ध्वतम, आधार-भूत ब्रह्म का इशारा हम अपने भीतर और बाहर सब कहीं पा सकते हैं। 'होने' का वह परम आधार हमारे परिचित 'होने' के परे है, चाहे यह 'होना' हमारे *भीतर* का हो - हमारी काल-गत और चित्त-गत आर्त आत्मा का - या आँखों-दिखते देश-गत जगत् का। इसी परे का इंगित हम आत्मचेतना के देखने-सोचने के सोपान में पाते हैं। ब्रह्म-रूपी वह परम आधार अपने आप में अव्यक्त रहता हुआ भी सब कुछ की अभिव्यक्ति करता है। वह अशरीर सब कुछ को शरीर देता है।

मैं याज्ञवल्क्य की युक्ति को और उनकी बात को अपनी तरह से खोल रही हूं। याज्ञवल्क्य देखने के देखने और उसके देखने के, या विचार पर विचार और उस पर विचार के न-रुकते सिलसिले की बात नहीं करते, जो सिलसिला संख्या की तरह अनंत की ओर बढ़ता है। पर हम तो इस सिलसिले की बात कर चुके हैं, और मैं समझती हूं, याज्ञवल्क्य की बात को इसके साथ रख कर ही देखना चाहिये। द्रष्टा-भाव का और विचार करने का एक ऊपर-उठता, न-रुकता क्रम बनता है जो द्रष्टा तक या विचारक तक नहीं पहुँचता, इसीलिये द्रष्टा को देखा नहीं जा सकता, मन्ता का मनन नहीं किया जा सकता। द्रष्टा और मन्ता आत्मवीक्षण और आत्ममनन या आत्मविचार के – देखने, सोचने के – एक अनंत क्रम से बाहर हैं। पर होने के अनंत क्रम से बाहर 'हो' क्या सकता है? दृश्य और द्रष्टा, मनन और मन्ता, दोनों इस क्रम के भीतर ही बनते हैं। 'बाहर' किसी 'होने' की बात ही नहीं हो सकती। पर इसका यह भी अर्थ लिया जा सकता है कि ब्रह्म द्रष्टा और मन्ता नहीं है – वह किसी कोटि में नहीं आता; वह ऐसा अनबूझ आधार है जिसके होने से ये हैं, पर उसका अपना 'होना' किसी भी 'होने' से बिल्कुल परे है – उसे 'होना' कहना एक कहने की बात है। गणितज्ञ संख्या के अनंत क्रम के बाहर एक संख्या की कल्पना कर लेते हैं जिसे अनंत कह देते हैं, उसे न गिना जा सकता है, न उस तक पहुँचा जा सकता है। संख्या के असीम क्रम में उसका इंगित ही पाया या दिया जा सकता है। याज्ञवल्क्य जो युक्ति देते हैं उस के मर्म को इस उदाहरण से कुछ समझा जा सकता है। पर गहरा अंतर भी है – ब्रह्म में और गणित के अनंत में। अनंत को ब्रह्म की तरह दूसरी संख्याओं का आधार नहीं कह सकते – यही कह सकते

हैं कि संख्या-क्रम उसकी कल्पना की ओर हमें अनिवार्य रूप से ले जाता है। परम आत्मा या ब्रह्म को द्रष्टा-दृश्य भाव या मन्ता-मनन भाव का ऐसा ही न-पकड़ा-जा-सकता काल्पनिक छोर या प्रत्यन्त नहीं कहा जा सकता है – वह विचार की अनिवार्य सी *कल्पना* नहीं है। क्योंकि यहां जो बात बिल्कुल अद्भुत, विलक्षण है, केवल विचार या युक्ति से कहीं परे है, वह है याज्ञवल्क्य का अनुभव – ऐसा अनुभव जो अनुभव के साधारण धरातल से कहीं ऊपर-उठा, गहरा, उत्तुंग, अनुभव है। यह अनुभव व्यक्ति की संपूर्ण चेतना को, उसके सारे 'होने' को ही जैसे रूपान्तरित कर देता है, किसी परम भूमि पर स्थिति दे देता है। याज्ञवल्क्य के विचार को भी यही दृष्टि देता है। पर यहीं मुझे उनकी बात अटपटी भी लगती है। अपनी बात पर आती हूं।

(कुछ और विमर्श में पैठते हुए) : मैंने ब्रह्म को अभी चेतना की 'स्थिति' कहा। लेकिन सच पूछो तो उसे कोई 'स्थिति' कह भी सकते हैं क्या? स्थिति चित्त की या मन की हो सकती है पर जिस आत्म-ब्रह्म की याज्ञवल्क्य बात कर रहे हैं, वह ऐसी किसी भी 'स्थिति' से परे ही जान पड़ता है – चित्त की स्थिति की हम बात कर सकते हैं, क्योंकि दूसरी स्थितियों से उसे व्यावृत्त कर सकते हैं – पर ब्रह्म ऐसी स्थितियों की किसी पंगत में कैसे आ सकता है – या सीढ़ी ही कहो? वह तो तन-मन-बुद्धि-विचार, सब से परे है। 'होने' से या 'होने' के किसी भी क्रम से परे है। ब्रह्म या परम आत्मा के लिये हम यह तो कभी नहीं कह सकते कि वह 'याज्ञवल्क्य' व्यक्ति की चेतना *में* है या 'उस' चेतना की कोई स्थिति या अवस्था है – चाहे कितनी ही ऊर्ध्व क्यों न हो। और मैं नहीं समझती कि हम उसे व्यक्ति-चेतना से ऊर्ध्व चेतना की भी कोई *स्थिति* कह सकते हैं। हमारी द्रष्टा-चेतना ऊर्ध्व चेतना ही होती है - पर कह चुकी हूं कि ब्रह्म द्रष्टा-दृश्य भाव के क्रम में नहीं समाता। तभी विचार के भी बाहर निकल जाता है। ब्रह्म के लिये कुछ भी कहना अटपटा ही लग सकता है। उसका 'होना' ही 'अनहोना' है। पर सबसे बड़ी अनहोनी बात यह है कि सब होना उसीसे है।

(एक नये सिरे से विचार की दूसरी दिशा लेते हुए, पल भर बाद) : इस बात पर फिर से ग़ौर करो कि संख्या के अनंत को 'अनंत एक संख्या है', ऐसा नहीं कहा जा सकता है। जो संख्या के क्रम से परे है, उसे संख्या कहो तो वह क्रम में – क्रम के भीतर – ही आ जायेगी, 'परे' नहीं रहेगी। इसी तरह ब्रहम भी 'होने' के क्रम से परे है, तो उसे 'है' कैसे कहा जा सकता है? उसे कुछ कहा ही नहीं जा सकता। और वह हो भी तो उसे जाना या पाया नहीं जा सकता। जहां, इन्द्रिय, मन, बुद्धि ये न हों, इनके विषय भी नहीं हों, न जगत् हो, न हम हों, न ग्राह्य हो न ग्राहक हो, वहां जानेगा या पायेगा कौन? हम में आत्मचेतन ग्राह्य-ग्राहक-भाव है तो हम 'है' का अध्यवसाय करते हैं, विचार करते हैं। पर जो 'होना' ग्राह्य-ग्राहक भाव के बाहर हो वहां 'होने' की बात कैसे होगी?

(फिर एक सोच के साथ) : मैं समझती हूं कि ऐसे 'होने' की बात फिर भी की जा सकती है। द्रष्टा-दृश्य से परे शुद्ध द्रष्टा की बात बनती नहीं दिखती पर बनाई जा सकती है।

कहा जा सकता है कि वह द्रष्टा–दृश्य के न–रुकते क्रम *में* तो नहीं होता है पर उस क्रम से *आक्षिप्त* होता है – जैसे संख्याओं में अनंत; याज्ञवल्क्य यही करते जान पड़ते हैं मुझे। यह सोचो कि संख्या का निरंतर आगे–बढ़ता क्रम स्वरूप से ही ऐसा क्रम है जिसका कहीं अंत नहीं – यह ठीक है। पर क्या उस क्रम को क्रम–से बाहर–रहते 'अनंत' के बिना समझा–पकड़ा जा सकता है? उस अनंत की ओर ही तो वह क्रम बढ़ता है। माना, अनंत को 'है' नहीं कह सकते, पर 'नहीं है' भी कैसे कहेंगे? निरंतर बढ़ते क्रम का होना अगर संख्या के होने की अनिवार्य शर्त है तो अनंत के बिना संख्या के संख्या 'होने' की भी कल्पना नहीं हो सकती। सच पूछो तो अनंत 'है' और 'नहीं है' दोनों कोटियों से बाहर जान पड़ता है। ब्रह्म के लिये भी ऐसा ही कह सकते हैं। पृथु कह रहा था कि – या उसकी बातों से यही निकल रहा था – कि ब्रह्म या आत्मा 'है', सत् है, परम सत् है – उसका होना ऐसा है कि उसे 'है' की परम, आधार कोटि कह सकते हैं – उसके बारे में ' वह *क्या* है' यह नहीं कह सकते, क्योंकि वह एक अखण्ड सत्ता है जिसमें व्यावृत्ति या अवच्छेद नहीं है, इसलिये उसके बारे में कहा कुछ नहीं जा सकता, क्योंकि *क्या* है कहना व्यावृत्ति की मांग करता है – अखण्ड सत्–मात्र को तो बस 'है' इतना ही कह सकते हैं। लेकिन वही अखण्ड खण्ड का आधार भी है – उसके 'होने' के भीतर से ही खण्ड सत्तायें व्यावृत्त हो कर निकलती हैं, जिनके बारे में 'यह क्या है' की बात हो सकती है। परम सत्ता अगर परम सामान्य भी है तो उसे व्यावृत्तियों का – और यों बाकी 'होने' का – स्रोत भी कहा ही जा सकता है। पृथु की बात अपने आप में संगत लग सकती है, पर मुझे नहीं लगता कि ब्रह्म वह परम सत्ता है जो परम सामान्य भी है। यह सोचो कि सामान्यों के क्रम का परम सत्ता–सामान्य में अंत हो जाता है, पर ब्रह्म तो किसी क्रम के बाहर ही ठहरता है, क्रम की पकड़ में नहीं आ सकता।

(अपने विचार में कुछ और गोता लगाते हुए) : एक बात और सोचो। अगर ब्रह्म सत् है तो असत् द्वारा व्यावृत्त होना चाहिये – पर असत् अगर सचमुच असत् होगा, सचमुच ही 'कुछ नहीं' – नितांत, सरासर शून्य – होगा तो वह सत् से ऐसा भिन्न और अछूता होगा कि उससे सत् को व्यावृत्त करने का कोई अर्थ ही नहीं बनता दिख सकता। सत् को वही असत् व्यावृत्त कर सकता है जो सत् के घेरे में हो – जैसे यह पेड़ नष्ट हो जाये तो इसका 'होना' – इसका सत् – इसके 'न–होने' से व्यावृत्त हो जायेगा। हां, सामान्यों मैं पेड़ की तरह नष्ट हो कर 'न–होने' की बात नहीं हो सकती है, वृक्षत्व देश–काल में होता ही नहीं, पर वृक्षत्व को अ–वृक्षत्व व्यावृत्त करता है, जिसका मतलब यह है कि वृक्षत्व में अ–वृक्षत्व 'नहीं होता' – अवृक्षत्व वृक्षत्व का असत् होता है। पर अखण्ड परम सत्ता की तरह अखण्ड परम असत्ता भी तो हो सकती है। असत् अपने आप में हो सकता है। साफ़ ही उसे 'होना' नहीं कहा जा सकता – 'होना' कहना यहां भाषा की मजबूरी है। पर कल्पना यह करो कि जैसे कुछ है वैसे ही कुछ नहीं भी तो हो सकता था। यह कल्पना सहज है – हम इसकी बात कर भी आये हैं। और फिर यह सोचो कि जो यह सब कुछ है वह यदि कुछ नहीं होता तो व्यावृत्त

किसे करता? व्यावृत्ति सत्-मात्र *में* – उसके भीतर – ही हो सकती है, असत् का परम शून्य उस के भीतर नहीं आता। हमने अभी देखा कि ब्रह्म को हम न 'है' कह सकते हैं, न 'नहीं है' – वह 'होने' के क्रम के बाहर भी है पर क्रम की अपेक्षा भी है; उसके बिना क्रम नहीं बनता, वह शून्य नहीं हो सकता। मुझे तो ब्रह्म सत् और असत् दोनों से परे लग रहा है – वेद के ऋषि के उस परम 'एक' की तरह जो तब था जब न सत् था, न असत्। याज्ञवल्क्य की बातों से यही लगता है कि वे ब्रह्म को होने और न-होने – सत् और असत् – दोनों संभावनाओं के बाहर ही रख रहे हैं। मुझे तो यही जान पड़ रहा है। उस परम *एक* की ओर इंगित कर रहे हैं याज्ञवल्क्य जिसे गिनती में गिना ही नहीं जा सकता। यह ठीक है कि याज्ञवल्क्य स्वतन्त्र चेतना की यात्रा में बड़ा जाग्रत, बड़ा जीवन्त इंगित पा रहे हैं ब्रह्म का – चेतना जहां जगत् से और जगत् की एषणाओं से बहुत आगे निकल गई है, ऊपर उठ गई है। लगता है मानो वहां से उन्हें यात्रा के अंत का – गन्तव्य का – अनुभव-में-जागता संकेत मिल रहा है और उसे वे ब्रह्म कह रहे हैं। उसे 'ब्रह्म' कहना या वेद के ऋषि की तरह 'एक' कहना, एक नामकरण है जो विचार में उसका धारण करने के लिये है – बस उसका प्रतीक-सा समझो; यह नाम उसे व्यावृत्त करने के लिये तो नहीं हो सकता – व्यावृत्ति की बात ही यहां बेमानी लगती है। बड़ी समझ और युक्ति के साथ वे ब्रह्म की बात करते हैं! वे यात्रा के अंत में व्यक्ति के ब्रह्म हो जाने की भी बात करते हैं – पूछते हैं, यात्रा के अंत में ब्राह्मण – जिसे 'व्यक्ति'-मात्र का प्रतीक समझना चाहिये – वह 'व्यक्ति काहे से होगा? और उत्तर देते हैं कि उसी आत्मा या ब्रह्म से होगा जिसे वह पायेगा। पर वह ब्रह्म-व्यक्ति व्यक्ति तो नहीं रह सकता। फिर ब्रह्म की बात क्या याज्ञवल्क्य-रूपी व्यक्ति नहीं कर रहा है? कहा जा सकता है कि बात करते समय याज्ञवल्क्य ब्रह्म-भाव से उतर कर ग्राह्य-ग्राहक-भाव की सीमा में आ जाते हैं। पर फिर भी सवाल रह जाता है : अगर सचमुच सीमा के – सीमाओं के क्रम के – बाहर कुछ है तो वह सीमा में आ ही कैसे सकता है? मेरी समझ में नहीं आता। बात विचार की चौखट लाँघ जाती है। गहन रहस्य हो जाती है।

(पृथु की ओर देखते हुए) : पृथु, इस रहस्य को ध्यान में रखो तो यह ठीक लग सकता है कि याज्ञवल्क्य के लिये ब्रह्म परम सत् है और वे उस तक पहुँच गये थे, उसे 'पा' लिया था, उनकी चेतना वहां 'स्थित' थी। फिर भी – और पृथु तुम यह ज़रूर मान भी लोगे – कि ऐसा कहना एक रूपक ही हो सकता है – गूढ़ अनुभूति की अनकहनी को कह पाने की एक व्यंजना। याज्ञवल्क्य को जीवन का गहनतम अनुभव हुआ था – उनकी चेतना का परम उन्नयन हुआ था। बड़े संतों के साथ जैसा होता है। याज्ञवल्क्य उस तक पहुँचने के पड़ावों का भी वर्णन करते हैं। बड़ा विचित्र वर्णन है। इसे भी एक तरह का रूपक ही समझना चाहिये। पहले वे सारे जानने से, चेतना के सारे संस्कारों से, प्रवृत्ति की रूढ़ियों से अछूते, नादान, निर्दोष, शिशु की सी 'अवस्था' तक पहुँचने की बात करते हैं; फिर मौन की बात करते हैं – जो विचार से भी ऊपर की 'स्थिति' जान पड़ती है। पर फिर इसके भी बाद का

पड़ाव है जहां वे पिछले पड़ाव से भी आगे किसी रहस्यमय अगाध में निकल जाते हैं – इसे ही वे मौन और अमौन, इस द्वन्द्व के अतिक्रमण की स्थिति कहते हैं। 'मौन और अ-मौन दोनों का अतिक्रमण' इस बात को कैसे समझा जाये? यह कैसी 'स्थिति' है? मैं समझती हूं इसे सत् और असत् दोनों के परे की स्थिति समझना चाहिये। (कुछ सोच में पड़ कर) : पर फिर यह 'स्थिति' कैसे हुई? यहां 'स्थिति' की बात में कथन से परे का संकेत ही हो सकता है। याज्ञवल्क्य जिस तरह अनुभव के पड़ावों का वर्णन करते हैं उससे लग सकता है कि वे व्यक्ति-चेतना की स्थितियों की बात कर रहे हैं। पर ये 'स्थितियां' व्यक्ति-चेतना की स्थितियां या अवस्थायें तो बिल्कुल नहीं कहला सकतीं – क्योंकि चेतना की जिस यात्रा की याज्ञवल्क्य बात कर रहे हैं वह व्यक्ति-चित्त या उसकी एषणाओं से उठ कर ही बनती है। विचार को, या युक्ति-तर्क को ही लो, या फिर आत्म-चेतना के साथ खुलते द्रष्टा-भाव को लो, इन्हें चित्त *की* 'स्थिति' या 'अवस्था' कहना भूल होगी।

(फिर अपनी बात पर आते हुए) : पर ब्रह्म को पाने की बात तो फिर भी याज्ञवल्क्य करते ही हैं – वही उनकी अध्यात्म-यात्रा का अंतिम पड़ाव है। मुझे यहां असमंजस लगता है। मुझे नहीं लगता कि इस यात्रा का कोई ब्रह्म जैसा निर्धारित अंत है। याज्ञवल्क्य की बात से लग सकता है कि अंत 'है' जिसे पाया भी जा सकता है – पर वह अंत संख्या के अनंत की तरह ही है, या द्रष्टा-दृश्य भाव के बाहर खड़े द्रष्टा की तरह जिसे यात्रा अंत *मान कर* चलती है, जिसके बिना यात्रा बन नहीं सकती, पर जो क्षितिज की तरह सतत पीछे हटता जाता है। मैं जिस प्रेम की बात करती हूं वह ऐसा ही है। और वह चित्त की बात नहीं है - विचार की तरह ही। मुझे तो लगता है कि याज्ञवल्क्य जिस यात्रा की बात कर रहे हैं, वहां चेतना अपने ही भीतर किसी खोज में निकलती है। वैसी ही खोज जैसी प्रेम में होती है। विशुद्ध प्रेम में प्रेम से बाहर कोई प्रेमी नहीं होता जिससे प्रेमी एक हो जाये – फिर तो प्रेम ही नहीं रहेगा। प्रेमी – या प्रेम का लक्ष्य कहो - प्रेम के अंदर ही होता है, जिसे पाने को प्रेम निरंतर ललकता रहता है, उस तक पहुँचता नहीं है। पृथु, तुम कवितायें सुनाते रहते हो, मैं भी दो एक लाइनें सुनाती हूं। विद्यापति ने कही हैं। राधा कृष्ण की गोद में ही हैं, पर कहती हैं – *लाख लाख जुग हिय हिय राखलुँ / तउ न जुड़ल हिय गेल* – सीधी-सरल भाषा है, पर यह भी देख लो कि 'जुड़ल' का अर्थ 'जुड़ जाना' ही नहीं, पा लेने का संतोष और शांति भी होती है। तो अर्थ होगा – 'लाख लाख युगों तक उसे हृदय से लगाये रखा, फिर भी हृदय को शांति नहीं मिली, उनके हृदय से एक नहीं हो पाई'। पर सच पूछो तो पाने की बात यहां बेमानी है, ऐसा अपने आप में अलग 'है' कुछ नहीं जिसे पाना है, जिससे 'एक' हो जाना है – बस 'पाने' की सतत ललक है – यात्रा है। जैसे किसी गहरी साधना का आदर्श होता है, जो सदा साध्य ही रहता है। मैं समझती हूं, 'पाने' की बात प्रगाढ़ता की है, विराट् की और बृहत् की ओर बढ़ते जाने की। चेतना की अपनी अनंत यात्रा है जिसका कोई निश्चित-निर्धारित अंतिम 'ठिकाना' नहीं है।

(फिर मन में बैठी बात की ओर मुड़ते हुए) : कह सकते हो कि आत्मचेतना के साथ चेतना अपनी ओर मुड़ती है तो अपने स्वरूप को *पाना* चाहती है। अब तक बाहर भटक रही थी। यही प्रेम मैं विरह और मिलन का विषम संयोग है – चेतना की अपने से बिछुड़ कर अपने को पाने की हूक। यह पाना ही अपने को जानना भी है। मैं कह भी चुकी हूं। जानना पाने के बिना रीता है, सूना है – खोखला है। सच पूछो तो दोनों अलग ही नहीं हैं। याज्ञवल्क्य की बात से भी यह साफ़ उभरता है – चाहे वे प्रेम का नाम नहीं लेते हों, उसका इंगित तो उनमें मिलता दिखता है। प्रेम अपने आप में सार्थक होता है। प्रेम का अपने से परे कोई प्रयोजन नहीं होता। प्रयोजन हो तो प्रेम नहीं होगा। हम अपने छोटे छोटे प्रयोजनों के – एषणाओं के – जंजाल में फँसे रहते हैं, तभी प्रेम हम में घर नहीं कर पाता। हम अपने प्रयोजनों से हट कर चेतन हो जायें तो प्रेम का आकाश हममें खुल जा सकता है। पर यही हम नहीं कर पाते।

(चुप हो जाती है, जैसे कहने की सारी बात ही अचानक रीत गई हो।)

**आकाश** : (अनुभूति को यों सहसा मुखर से मूक होते देख कर उसकी बात को आगे ले जाना चाहता है, पर अपना अलग मोड़ देता है) : अनुभूति, सुनो, अब मुझे कुछ कहने दो। बाद में कुछ कहना चाहो तो कहना, अभी शांत हो जाओ। तुम भीतर ही भीतर कुछ विह्वल और चंचल सी हो आज। डगमगा रही हो, क्षुब्ध हो रही हो। एक विचित्र सा तनाव, एक अजीब सा एकदम-से-उमड़-आया विरोध, एक दोहरापन तुम्हें ठिठका रहा है। फिर भी – या शायद इसीलिये – तुमने बातों की झड़ी ही लगा दी। एक तरफ़ तो तुममें संशय की एक नई, बड़ी विचित्र पीड़ा तीखी टीस के साथ जाग रही है जो पहले इस तरह गहरा के उठती नहीं दिखी थी। मुझे तो लगने लगा था कि यह क्या, आज तुम्हारा प्रेम-राग कुछ विवादी स्वरों में कैसे उलझता जा रहा है! एक बार मैंने सोचा कि तुम्हारे मन पर कोई अनहोनी सी छाया पड़ी है, जो तुम्हारे भाव को विचलित कर रही है। पर फिर दूसरी तरफ़ देखा कि तुम्हारा विचार तो वहीं है – सोच में युक्ति का पैनापन भी आ गया है। वह बिलकुल डिगा नहीं है अपनी जगह से। पर तुम्हारा संशय भी उथला-छिछला सा कुछ नहीं है, गंभीर है। उसकी काली छाया तुममें भीतर तक पड़ी है – एक अनजानी वेदना जगा गई है जो विचार से ही जाग सकती है। विचार का विवादी आज एक चुभन के साथ तुम्हारे विचार-राग को और अपने भीतर भी ले जाता दिखता है।

(अपनी बात पर आते हुए) : तुमने बहुत सारी बातें कहीं – बातूनियों की तरह इधर-उधर ले जाती रहीं बात को तुम। फिर भी गुँथी हुई थी बात। मैं समझता हूं, कई सोचने लायक बातें कहीं तुमने। मैं तुम्हारी बात की डोर पकड़ कर उसे अपनी तरह बढ़ाता हूं। पर तुम्हारी बात पर एक प्रश्न से शुरु करूंगा। तुम ब्रह्म को सत्-असत् से परे कहते हुए उसे 'है – नहीं है' से परे बता रही हो – कह रही हो कि उसका 'होना' स्वभाव से ही साध्य होता है, एक अनंत की ओर बढ़ते आदर्श की तरह – उसे होना नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह

देश–काल में या देश–काल से परे किसी परम व्योम जैसे 'स्थान' में, कहीं 'होता' ही नहीं, न 'हो' सकता है। वह कोई ध्रुव–स्थिर तत्त्व नहीं है, एक यात्रा है – चेतना की अपनी अनंत यात्रा जो हममें रूप लेती देखी जा सकती है। शायद तुम कहोगी कि जगत् का आविर्भाव भी उसी यात्रा का पड़ाव है – पर तुमने यह बात अनकही ही छोड़ दी। फिर भी लगा कि तुम याज्ञवल्क्य की बात का ऐसा ही कुछ तात्पर्य निकाल रही हो – कि चेतना की अपनी ओर बढ़ती, अपने से बिछुड़ कर अपने को पाने की यात्रा में ही सृष्टि का और उसके 'चलने' का आविर्भाव हुआ है। और चेतना इस यात्रा से अलग अपने आप में 'सिद्ध' कुछ नहीं, बल्कि स्वरूप से ही साध्य है। चेतना ऐसा प्रेम है जो 'अपने आप को पाने की ललक है'।

पर याज्ञवल्क्य ऐसा कहते नहीं लगते। यह ठीक है कि याज्ञवल्क्य आत्म–रूप ब्रह्म को विचार के परे बता रहे हैं। सब कुछ के, हमारे जाने–माने 'होने' के भी परे बता रहे हैं – इस अर्थ में हम 'है' के आम प्रयोग को उन पर लागू नहीं कर सकते। पर 'है' तो उसे कह ही रहे हैं याज्ञवल्क्य - उसे सब कुछ का *आधार*, सब कुछ का नियमन करनेवाला बता रहे हैं। इससे तो यही निकलता है कि वह 'है' ही नहीं. उसका 'होना' 'परम होना' है। उसके 'होने' से ही शेष सब कुछ 'है'। 'होने' के ऐसे आधार के लिये बीज की उपमा दी जा सकती है। पर ऐसे आधार के स्वरूप की और तरह से भी कल्पना की जा सकती है। यह भी कहा जा सकता है कि ब्रह्म अव्यक्त तत्त्व है – जो कुछ होता है, उसमें संभावना के रूप में रहता है और उसी की प्रेरणा से रूप लेता है। पर जो भी उपमा दो, है तो ब्रह्म 'तत्त्व' ही – ऐसा 'कुछ' *है* जो सब कुछ का आधार है – देश–काल के परे है, पर अपने आप में *है*, सिद्ध तत्त्व है, उसका 'होना' *ध्रुव* है, जो कुछ हमें दिखता है, देश–काल में है, उसका शरीर है – वह किसी अनंत यात्रा के गन्तव्य की तरह 'है – नहीं है' के परे रहता हुआ, क्षितिज की तरह सतत पीछे हटता नहीं चला जाता। बल्कि सच पूछो तो वही *है*, बाकी जो *लगता है* कि है, जगत् या हम, वह तो नहीं भी हो सकता था। बुद्ध की तरह उसके होने को 'निरात्म' या निस्सार, होते–हुए–भी–तत्त्व–शून्य कह सकते हो – जिसका होना – नहीं होना एक सा है, जो वासना की – एषणा की - आग में जल रहा है, जिससे निकल जाना ही श्रेय है। ध्यान दो कि याज्ञवल्क्य एक बात कहते हैं जो बुद्ध की याद दिला सकती है। वे कहते हैं कि सब के अंतर में जो आत्मा है वह शोक, जरा, मृत्यु से परे है, उसके लिये भिक्षाचारी हो जाना चाहिये। बुद्ध की कहानी याद करो। वे शोक, जरा, मृत्यु, इन्हें देख कर ही भिक्षाचारी हुए थे। पर वे 'क्या है – क्या नहीं है' जेसे प्रश्नों में उलझना वृथा समझते हैं – परम तत्त्व की बात नहीं करना चाहते। पर याज्ञवल्क्य तो करते हैं। ब्रह्म उनके लिये परम तत्त्व है उसे ईश्वर से भी मिला सकते हो। वह सृष्टि को प्रकट करता है, उसका नियमन करता है। यों वह सृष्टि को समेट भी ले सकता है – पुराणों के उस परमेश्वर की तरह जो अपने ही भीतर से सृष्टि का आविर्भाव करता है, उसका पालन करता है, फिर उसे वापस अपने भीतर समेट लेता है। याज्ञवल्क्य ने ब्रह्म को परमेश्वर नहीं कहा है, पर कह सकते थे। उनका ब्रह्म ईश्वर की तरह

ही परम 'होना' हैं। वह किसी यात्रा में नहीं है क्योंकि उससे अधिक स्थिर और अचल होना क्या हो सकता है! ब्रह्म के अपने *होने* का निश्चित स्वरूप है – कि वह सब कुछ को अपने में समोये है, सब कुछ का *कारण* है। इन बातों से ब्रह्म का अपना होना ही सिद्ध होता है – जैसे बीज का होता है। या कारण के रूप में सब-कुछ-को-अपने-में-समेटे अव्यक्त होता है। पर जैसे भी सोचो, ब्रह्म ध्रुव है, सिद्ध है। प्रेम जैसा साध्य नहीं जो सदा साध्य ही रहता है – 'प्राप्त' नहीं होता। पर, हां, जो फिर भी साधना के अर्थ को बृहत् से बृहत्तर करता चला जाता है। (एक थोड़ी सी अलग मुद्रा में) : देखो विचार को ही लो, विचार के लिये सत्य भी वैसा ही अप्राप्य साध्य है – मुझे तो अब पिछले कई दिनों से यही बहुत घनीभूत हो कर लग रहा है। प्रेम या विचार जैसी साधना के अप्राप्य-फिर-भी-साध्य आदर्श को किसी परम ध्रुव तत्त्व की तरह 'है' नहीं कह सकते। अनुभूति, तुमने 'आक्षेप' की बात की। साध्य को साधना का *आक्षेप* कह सकती हो, शायद, संख्या क्रम के अप्राप्य अनंत की तरह – जो उदाहरण तुमने विस्तार से सामने रखा। पर यहां भी मैं समझता हूं, एक बड़ा फ़र्क किया जा सकता है – करना ही चाहिये। संख्या के साथ *साधना* की बात बेमानी है – संख्या का क्रम तो एक जड़ सा, बँधा-बँधाया *नियत* क्रम है, अपने संख्या-स्वरूप के तंत्र से पूरी तरह जकड़ा हुआ। किसी कम्प्यूटर को इस गिनती में लगा दो, अनंत काल तक – या काल के अंत तक, या जब तक मशीन बिगड़-टूट कर निकम्मी न हो जाये, तब तक वह गिनता चला जायेगा। पर साधना की साध्य की ओर बढ़ती यात्रा स्वतन्त्र यात्रा होती है। *स्वतन्त्र* है, तभी *यात्रा* है। कम्प्यूटर में स्वातन्त्र्य की बात बेमानी है –और यात्रा की भी – वह कुछ पाना या साधना नहीं चाहता। हम ही उसके माध्यम से कुछ साधते हैं। वह अगर गिनती गिनना, खेल खेलना या ऐसे ही कुछ तन्त्र-बद्ध, नियत काम करता है जिन्हें बुद्धि के काम कहा जा सकता है, तो इसका अर्थ यही निकलता है कि बुद्धि का भी एक ऐसा पक्ष है जो किसी यन्त्र जैसी निर्धारित चाल चलता है, कम्प्यूटर जिसे बहुत बारीकी और सफ़ाई से चला सकता है। पर कम्प्यूटर कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं साधता – वह अर्थ ही नहीं साधता – उसकी न कोई साधना होती है, न साध्य। दूरबीन हमारी बीनाई को बढ़ा देती है – पर देखती तो द्रष्टा चेतना ही है जो उस देखने से कई अर्थ भी साध सकती है : 'क्या है' के प्रश्न की सूक्ष्मता में उतर सकती है, या 'जो है इसका क्या किया जाये' के कौशल साध सकती है, विज्ञान के वस्तु-ज्ञान में, यन्त्र बनाने में, चिकित्सा में, कला में... और ऐसी दिशाओं में बृः सकती है – नई दिशायें भी खोज सकती है जो अभी सूझ के बाहर हों। हम अकसर अपने को बुद्धि से परिभाषित करना चाहते हैं, तभी कम्प्यूटर के काम पर इतना अचंभा करते हैं – उसके हम-जैसा हो जाने की भी कहानियां गढ़ते हैं। पर मैं समझता हूं कि कम्प्यूटर यह दिखाता है कि बुद्धि भी हमारे प्रयोजन का उपकरण है, औज़ार है। परतन्त्र है। पर हमारे प्रयोजन बुद्धि से बाहर या ऊपर होते हैं। कम्प्यूटर का कोई प्रयोजन नहीं होता – *साधना* की तो बात ही दूर। याज्ञवल्क्य भीतर की जिस यात्रा की बात कर रहे हैं, जिसके पड़ाव गिनाते हैं, वह चेतना की

अपनी – स्वतन्त्र – यात्रा ही हो सकती है। वह अर्थ-संधान की यात्रा है – लगता है चेतना अपने ही अर्थ का संधान कर ही है। पर यात्रा स्वतन्त्र हो तो कहां जायेगी, इसका गन्तव्य क्या है, इस बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता। गन्तव्य का निर्धारण तो दूर, यह भी नहीं कहा जा सकता कि कोई निश्चित-निर्धारित गन्तव्य तो है। संख्या का अनंत एक आक्षेप है – अनिवार्य आक्षेप ही कह लो – पर है वह संख्या ही, तभी उसका संख्या की तरह प्रयोग भी कर लिया जाता है। पर चेतना की यात्रा कहां जा रही है, इसके बारे में कह क्या सकते हैं? उसका 'कहीं जाना' एक रूपक ही हो सकता है – उसका साध्य सम्भावनाओं के अनंत आकाश में खुला है – जो सम्भावनायें किसी नियत क्रम से, किसी व्यवस्थित निर्धारण-विश्लेषण से परे हैं। उस साध्य के किसी भी अर्थ में *होने* की बात करना, नासमझी लगती है।

पर साफ़ ही याज्ञवल्क्य का आत्म-ब्रह्म ऐसा नहीं है। वह परम गन्तव्य है। हां, वह युक्ति-तर्क के परे है, क्योंकि चेतना की जिस भूमि पर हम इन्द्रिय, मन, बुद्धि, ग्राह्य-ग्राहक भाव और उसकी वृत्तियों में रहते हुए, इन पर निर्भर होते हुए युक्ति-तर्क करते हैं, वह इससे बिलकुल परे है। पर है वह एक परम वस्तु जैसा ही कुछ। उसे पा कर चेतना की यात्रा पूरी हो जाती है – जैसे हमारे वीर राजकुमार ने सात समंदर पार कोई परम रत्न पा लिया हो – और यात्रा ख़त्म, कहानी ख़त्म। ब्रह्म वैसी ही एक वस्तु जान पड़ती है – पर वह मामूली रत्न नहीं, अमृत है। सबकुछ का कारण है।

(तभी कुछ सूझ आता है) : ब्रह्म जैसे कारण को एक और विचित्र-से-लगते अर्थ में भी समझा जा सकता है – जैसा कि हमारे यहां चलन ही है। याज्ञवल्क्य की बात से यह भी निकाला जा सकता है कि 'होने' को ब्रह्म ही वास्तव में *है* और सब कुछ जो दीखता है, *प्रतीत* होता है – चाहे हमारे भीतर हो या हमसे बाहर - सब माया है – जगत् भी, हम भी, हमारे इन्द्रिय, मन, बुद्धि भी। मैंने यह भी सुना है कि ऐसा मायावाद भी उपनिषद् की ही दुहाई देता है। यह भी सोचो कि ब्रह्म अगर सत् है, और परम कारण है और इस रूप में ध्रुव और देश-काल के परे है, शाश्वत, अविनश्वर है तो जो कुछ देश-काल में है, जो कार्य हैं, नश्वर है, वह असत् या माया ही हो सकता है! पर मैं यह भी कहूंगा कि मुझे यहां नहीं लगता कि याज्ञवल्क्य मायावाद जैसा कोई सिद्धान्त खड़ा कर रहे हैं। लेकिन ब्रह्म को वे परम और ध्रुव आधार-तत्त्व तो कह ही रहे हैं। अनुभूति, तुम्हारी स्वतन्त्र यात्रा की बात याज्ञवल्क्य की बात से अलग, अपने तात्पर्य में उनसे स्वतन्त्र ही हो सकती है। वैसे मैं इस स्वातन्त्र्य को सराहता हूं, और तुम्हारी बात मुझे बहुत पते की लगी।

(अपनी बात को बढ़ाते हए) : याज्ञवल्क्य यह भी कहते हैं कि वह परम *एक*, जिसे वे ब्रह्म का नाम देते हैं, वही सब कुछ के – जगत् के और हमारे - *होने* का ही आधार नहीं है, वह अंतर्यामी भी है : वह हमारा वास्तव स्वरूप ही नहीं, वही हमें *चलाता* है - कहीं भीतर से चलाता है, जिस भीतर के गूढ़ तत्त्व को हम नहीं जानते पर जान सकते हैं – क्योंकि ब्रह्म को पा सकते हैं। पर यह कैसा 'चलाना' होगा और उसका कैसा 'जानना' होगा? बात बड़ी

गूढ़ लगती है। हम 'होने' की – या कहो जगत् की – बात करते हुए अकसर यह भूल जाते हैं कि जगत् कोई ठहरी हुई चीज़ नहीं है, वह चलता है, और एक योजना से चलता है। यहां तक कह सकते हैं कि वह योजना ही जगत् है – उसकी वस्तुएं तो आगन्तुक हैं – जैसा हम बार बार कह चुके हैं। जगत् का अर्थ ही गतिमान होना है। जगत् कैसे चलता है, इसका प्रमाण हम भौतिक विज्ञान को मानते हैं – जो जड़-जगत् के चलने के नियमों-योजनाओं की टोह लेता है, प्रयोग से उन्हें जाँचता है। *हम*, हमारा मन, कैसे चलते हैं, यह मनोविज्ञान बताता है। वह भी भौतिक विज्ञान को निदर्श बनाता है – उसकी टोह लेने का ढाँचा और ढर्रा, ये विज्ञान की तरह 'सामने-दिखते को मापना और जाँचना' इस तत्त्व को आधार बनाना चाहते हैं, पर ऐसा कर नहीं सकते। (पृथु की ओर देखते हुए) : उपनिषद् से लगता है कि उषस्त चाक्रायण हमारे अंतर में क्या है इसे वैज्ञानिक की तरह सामने देख लेना चाहते थे। तभी चाक्रायण ने याज्ञवल्क्य से कहा कि आत्मा को यों दिखा दो जैसे सामने खड़े गाय-घोड़े को दिखाया जाता है। याज्ञवल्क्य ने इस का बड़ा गहरा जवाब दिया – द्रष्टा देखने की सम्भावना से – देखने की कोटि से – ही परे है। पर देश-काल-बाहर ब्रह्म-रूप आत्मा को छोड़ो, हमारे मन को ही लो – यह भी हमारी 'आत्मा' ही है, 'आर्त' आत्मा ही सही। इसकी आर्ति दूर करना भी मनोविज्ञान अपना लक्ष्य बनाता है। पर मन को जानना बड़ा दूभर है। मन देश में नहीं है – होता तो गाय-घोड़ों की तरह अस्तबलों में, बाड़ों में खड़ा दिख जाता। मन का सम्बन्ध काल से है – बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। काल का सीधा-साक्षात् अनुभव मन को ही होता है – नहीं लगता कि उसके बिना 'काल *है*' यह बोध हमें हो सकता है। लेकिन यहां देखने की जो बात है, यह है कि मन के भीतर – काल में – जो कुछ होता है, वह गाय-घोड़ों की तरह 'दिखता' नहीं है। उसका स्वरूप-स्वभाव ही देश में जो है, उससे एकदम भिन्न होता है। उसका परिमाण नहीं होता, न अणु-परमाणु होते हैं; गणित से उसकी कार्य-कारण योजना का हिसाब नहीं लगाया जा सकता – तो उसका विज्ञान नाम को ही विज्ञान कहा जा सकता है। किसी ठोस वस्तु की तरह परिमाण या मात्रा की बात छोड़ो, वहां क्या है, क्या क्या है, इसे ही हम गाय-घोड़ों की तरह अलग अलग कर के देख-दिखा नहीं सकते। '*दिखा* सकने' का वहां सवाल ही नहीं उठता क्योंकि मेरे मन में क्या हो रहा है, इसे गाय-घोड़ों की तरह हम सब मिल के देख ही नहीं सकते। मैं भी अपने मन को *देख* कहां सकता हूं, और उसका *प्रकट* अनुभव भी कितना कर सकता हूं – मन का विस्तार अनुभव में जितना है उससे कहीं ज़्यादा अनुभव से बाहर है। और जो प्रकट भी है – जैसे सपना – वह क्या बताता है, कहां पकड़ में आता है! फिर, सोचो, मन में 'क्या है, क्या क्या है' इसका बोध हो ही कितना सकता है? यह ग़नीमत ही समझो कि मुझमें यह संदेह-से-रीता बोध है कि 'मैं हूं'; पर उस 'मैं' को मैं अपने भीतर खोजूं तो नहीं मिलता – मेरी इच्छा, मेरा क्रोध या विषाद, मेरा विचार – इस रूप में ही मुझे अपना 'मैं' मिलता है; पर ये *मेरे* होते हैं, *मैं* इन से हट जा सकता हूं, इन्हें भी हटाने की ओर बढ़ सकता हूं। 'मैं क्या हूं',

यह उम्र भर तक सवाल ही बना रहता है, अगर मैं सवाल करूं। इस सवाल का जो भी उत्तर हो, कोई वैज्ञानिक उत्तर तो नहीं हो सकता। क्योंकि मेरा 'मैं हूं' सदा अपने 'होने' में ही 'होना चाहिये' से भी बिंधा रहता है – मुझे अपना होना वह नहीं लगता जो उसे होना चाहिये। इसकी बात हम अपनी चर्चा में कर भी चुके हैं। एक और बात सुनो। मन के बारे में मैं 'मेरा मन' कहता हूं – पर 'मन' किसे कहूं यह भी उलझन रहती है। 'मन' जैसा कुछ अनुभव में तो आता नहीं – इच्छायें, भावनायें, विचार, संकल्प..., ये ही सामने आते हैं। विचार के द्रष्टा-भाव में ही मैं मन का एक अलग क्षेत्र बनाता हूं। पर क्षेत्र की सीमा-रेखा बनाने में मुझे तो समस्या भी नज़र आती है। मैं अपने भीतर इच्छा, विचार, सुख, दुख, क्रोध, करुणा, विवेक, संकल्प... कितनी अलग प्रवृत्तियां पाता हूं, और सब एक साथ होती हैं, इनमें गडमड भी होती है – जैसे मैं सोचता हूं कि मैं विचार कर रहा हूं, पर होता क्रोध में हूं। ऐसा मैं ही नहीं पाता, मुझ में यह अचूक बोध है कि *तुम भी* ऐसा पाते हो, नहीं तो मेरा यों बात करना ही निरा पागलपन होगा। पर न मैं, न तुम, 'मन' जैसा अलग कुछ पाते हैं। लगता है, हम मिल कर विचार में मन नाम का एक *अलग* क्षेत्र बनाते हैं जिसमें कुछ प्रवृत्तियों को रखते हैं, कुछ को नहीं– जैसे क्रोध को रखते हैं, पर संकल्प और विचार को नहीं – पर इसका भी कोई नियम नहीं दिखता है। लगता है, कुछ लोग संकल्प को अलग प्रवृत्ति ही नहीं मानते। बात यहां भी विचार की ही है। (दोस्तों की ओर देखते हुए) : तुम संकल्प को या विचार को कहां रखोगे? बुद्धि में? मैं तो यही करूंगा। पर मूल मुद्दा यह है कि मनोवैज्ञानिक भी क्या विचार या संकल्प को मन के क्षेत्र में रख सकता है? विज्ञान की राह लेता हुआ वह मन की प्रवृत्तियों में कार्य-कारण का अंतःसम्बन्ध बनाता है। मन को इन सम्बन्धों के परतन्त्र कहता है। पर विचार और संकल्प को भी क्या वह इसी परतन्त्र क्षेत्र में रखेगा? पर ये स्वतन्त्र न हों तो उसके विचार का अर्थ ही क्या होगा, उसमें सत्य का स्थान ही कहां बनेगा? मुझे तो यही लगता है कि मनोविज्ञान हमारे अंतःस्वरूप को बहुत उथला, बहुत सतही पकड़ता है – वह मन के रोगौं का इलाज करता है पर 'मनुष्य का 'स्वस्थ होना' इस बात की कसौटी ही उसके लिये छिछली सी है – 'अपनी एषणाओं को साधते हुए दूसरों के साथ व्यवहार कर पाना' जैसी ही कुछ है; जो व्यक्ति ऐसा नहीं कर पाता वह 'मनोरोगी' है। यह सोचो कि याज्ञवल्क्य जैसे व्यक्ति के बारे में मन का यह विज्ञान क्या कहेगा – उसे स्वस्थ कहेगा या रोगी? और याज्ञवल्क्य तो उन एषणाओं को ही रोग बताते हैं जो व्यवहार को साधती हैं!

(इस सारी चर्चा को समेट कर इससे हटने के इरादे से) : पर, चलो, जो भी हो, हम जैसे हैं, जैसा व्यवहार करते हैं, उसके पीछे 'नियमन' क्या है, मनोविज्ञान अपनी तरह से इसी की टोह लेने की ओर बढ़ता है; सिद्धान्त बनाता है, जो एक हद तक जाँचे जा सकते हैं। मनोविज्ञान के साथ यहां समाजशास्त्र और इतिहास को भी जोड़ सकते हो। ये भौतिक विज्ञान से अलग विज्ञान हैं – इनका विषय मनुष्य है – इन्हें मनुष्य-विज्ञान कहा ही जाता है।

ये मनुष्य–विज्ञान भौतिक विज्ञान को आदर्श बनाते हैं – लगता है, मनुष्य को ये "भौतिक' ही देखना चाहते हैं; देख कहां तक पाते हैं, यह और बात है। न देख पाने के एक बड़े कारण की बात हम कर आये हैं – मनुष्य आत्मचेतन है तो स्वतन्त्र है। वह अर्थ का संधानी है – अपने एषणा–स्वभाव से उठ परम स्वतन्त्र – मुक्त – हो जाने की साध रखता है। । मनुष्य के स्वरूप–स्वभाव में – या कहो कि उसके 'है' में ही – 'उसे क्या होना चाहिये' का संधान समाया हुआ है।

साफ़ ही याज्ञवल्क्य जगत् और मनुष्य के 'अंतर्यामी' भाव को भौतिक विज्ञान या उससे प्रभावित किसी मनुष्य–विज्ञान की तरह नहीं देखते। मनुष्य के व्यवहार को वे मनुष्य को समझने की कसौटी नहीं मानते। उनकी पद्धति इन्द्रिय और तर्क–बुद्धि पर आधारित नहीं है। वे ब्रह्म को किसी परम योजना के परम आधार के रूप में ही देख रहे हैं – ऐसी योजना जिसे 'ऋत' कहा जा सकता है - जो 'है' के भीतर 'होना चाहिये' को भी समोती है – जो सत् ही नहीं शिव भी है – (पृथु की ओर देखते हुए) – और सुंदर भी कह सकते हो; या, मैं समझता हूं, यों भी कह सकते हो कि ब्रह्म सृष्टि में स्वयं रूप लेता है – अपने परम अर्थ को प्रकट करता है। इस बात को दूसरी तरह से यों कह सकते हो कि ब्रह्म हमारा और सृष्टि का चलानेवाला अध्यक्ष ही नहीं इसे रचनेवाला भी वही है – सृष्टि उसका आत्म–सृजन है। तभी ब्रह्म अन्तर्यामी हो सकता है।

(अचानक किसी प्रश्न से व्यथित होते हुए) : पर फिर एक तीखा प्रश्न रह जाता है : जिस योजना में हम रहते हैं वह ऐसी क्रूर, नृशंस, अंधी, अन्याय–भरी विभीषिका सी क्यों है? हमारी उपलब्ध आत्मा आर्त क्यों है? ब्रह्म ने हमारा यह ब्रह्मात्म–तत्त्व–से–रीता, क्लेश–भरा, अवर रूप क्यों रचा जो स्वभाव से क्लिष्ट है, दुखी है? जिस आत्मा में हम अपने को पाते हैं, वह दुखी ही नहीं भ्रान्त भी है, सत्य को पकड़ ही नहीं पाती, भटकती रहती है, अपने ही तर्क में उलझ कर अपंग हो जाती है। अगर चेतन ब्रह्म सृष्टि का आधार और इसका अंतर्यामी है तो उसकी यह आत्मरचना, उसके स्वरूप से प्रसूत यह योजना, एक काटती–हुई अनबूझ पहेली क्यों है जो समझ में नहीं आती, बुरी तरह सताती–सालती रहती है। क्या ब्रह्म ने अपनी सृष्टि में अपने को पाया नहीं है – पाना चाह ही रहा है? हमारी तरह भटक रहा है? कुछ भी सोचो, बात दुर्गम और भयानक, घोर रहस्य ही रह जाती है।

(याज्ञवल्क्य की ओर फिर ध्यान देते हुए) : एक प्रश्न और झाँकता है मेरे भीतर। याज्ञवल्क्य जिस सत्य को मानो साक्षात् देख रहे हैं उसे इन्द्रिय, मन, बुद्धि से नहीं देख रहे तो क्या इन के परे किसी और वृत्ति या बोध से देख रहे हैं? क्या याज्ञवल्क्य का देखा सत्य तभी देखा जा सकता है जब वह वृत्ति हम में जागे? क्या वह वृत्ति किसी किसी में ही होती है? पर यही है तो याज्ञवल्क्य की बातों का हमारे लिये क्या मोल? पर ऐसा कैसे हो सकता है? वे प्रश्नों का जो उत्तर देते हैं, सब के लिये हैं – वे उस आत्मा की बात करते हैं जो सब का आत्मा है और सबके लिये प्राप्य है। पर यहां जो प्रश्न देढ़ा है वह दूसरा है। माना ब्रह्म को

पाने की कोई 'परम' वृत्ति है जो सब में है – पर ब्रह्म–आत्म को तो सब कुछ के परे होना चाहिये। कोई भी वृत्ति हो, कोई विशिष्ट, असाधारण वृत्ति ही सही, वह अवर ही होगी, ब्रह्म के 'पर' को कैसे अपने में समो लेगी? मुझे तो बात चेतना के ही अपने से ऊपर उठ जाने की लगती है, जो हम सब में सम्भव है।

(कुछ मज़बूती के साथ) : हमारी आत्मचेतना इसकी साक्षी है। चेतना का आत्म–उन्नयन आत्मचेतना के होने में ही देखा जा सकता है। आत्मचेतना में हम अपने और जगत् के होने को देख सकते हैं, क्योंकि उससे ऊपर उठे होते हैं, उसे विषय बना सकते हैं। चेतना पशु में भी होती है, पर पशु जगत् को देखते नहीं, बस उसमें होते हैं। फिर यह भी देखो कि हम आत्मचेतन हैं तो हम केवल होते ही नहीं – हम होने के अर्थ का संधान भी करते हैं, उसे जिजीविषा से परे देखते हैं, उसके अगाध में उतरते हैं। यही तो याज्ञवल्क्य कर रहे हैं – यही उनकी अमृत की तलाश है। हमारे लिये तो 'क्या है' यह जिज्ञासा भी अर्थ का संधान ही है। हमारी वृत्तियां पशुओं जैसी ही बनी रहती हैं, तभी हम उनको समझ सकते हैं - पर वृत्तियों का अर्थ बदल जाता है। अनुभूति प्रेम की बात करती रहती है कामना और प्रेम में अंतर करती है। प्रेम आत्मचेतना के साथ ही उभरता है। पर यह दोखो कि प्रेम में क्या होता है? इन्द्रिय, मन, बुद्धि सभी रहते हैं, अपना काम करते हैं, विषय–हीन नहीं हो जाते, पर उनके पीछे जो चेतना है, उसका संधान, उसका अर्थ–बोध बदल जाता है। जो चेतना एषणाओं की लकीर पर बेबस, निर्विचार चलती रहती है वह अपने को नागवारा पाती है, उसके चलने की दिशा, उसकी *यात्रा* बदल जाती है। इन्द्रिय, मन, बुद्धि सब प्रेम के रंग में रंग जाते हैं। पर यह नहीं कि उनका व्यापार ही बंद हो जाता है। यह ऊर्ध्व होना अवर को *छोड़* कर नहीं जाता, उसे भी अपने साथ ऊर्ध्व की ओर ले चलता है।

(ज़रा रुक कर) : पर चेतना में एक और भी गहरी अंतर्यात्रा की गति है, यह भी हमें दीखता है। आत्मचेतना का उदय देखो। आत्मचेतना में चेतना की गति एक नया मोड़ लेती दिखती है। चेतना अपनी ओर पलटती है – हम चेतना में जिन सीढ़ियों की बात करते रहे हैं उसका यही विचित्र आरंभ है। तभी चेतना अपने ग्राह्य–ग्राहक भाव को देख सकती और उसका *ग्रहण* कर सकती है। पर मनुष्य के पहले ऐसा नहीं दिखता। मनुष्य में आ कर जैसे उसकी पूरी प्रवृत्ति में ही अब तक की गतियों से उलटी गति लेने का पंथ खुल जाता है। चेतना अब उलटी गंगा बहा सकती है। मनुष्य के सिवा सारे जीव–जगत् को देखो – चेतना की उनमें एकदम विपरीत गति है। इन्द्रिय, मन, बुद्धि ये तो पशुओं में भी हैं, पर वे विवश से जीते हैं – अपनी एषणाओं के पूरी तरह परतन्त्र – क्योंकि उनसे ऊपर उठ नहीं पाते। यह आत्मचेतना में ही सम्भव है। अगर उच्चतर पशुओं में आत्मचेतना के छिटपुट चिह्न हों भी तो वहां उसके पाँव जमे नहीं दिखते। मनुष्य में चेतना सचमुच अपने प्रति चेतन हो जाती है – और यह बात हमें साक्षात् सामने दिखती रहती है। चेतना अब भी बाहर देखती है, पर अपनी ओर मुड़ कर बाहर देखती है – तभी जगत् से और अपने आप से तटस्थ रह कर

अपने देखे को *जान* सकती है, 'क्या है' यह प्रश्न उठा कर उसे विचार का विषय बना सकती है। 'क्या उचित है', श्रेयस् का यह प्रश्न भी उठा सकती है – अपने को और जगत् को बदलने की दिशा ले सकती है। अपनी ओर मुड़ती है तो अपनी ओर बढ़ भी सकती है। उसकी अंतर्यात्रा का द्वार खुल जाता है। हम अब विषय से हट कर विषय को ही नहीं देख सकते, हम दृष्टि के द्रष्टा और मन के मन्ता का भी संकेत पा सकते हैं, उसे अपना सच्चा, श्रेय स्वरूप जानते हुए उसकी ओर बढ़ सकते हैं। हम याज्ञवल्क्य में ऐसी ही एक अंतर्यात्रा देख पाते हैं जो लगता है कि केवल विचार की नहीं है, समूची चेतना की है। हमारा श्रेयबोध यह मांग करता ही है कि हम भीतर से बदल जायें – हमारी समूची चेतना का उन्नयन हो जाये।

यह भी देखो कि वस्तु या जगत्, 'ये अपने आप में कुछ हैं' यह बोध भी आत्मचेतना की तटस्थता के बिना नहीं जागता दिखता है, और तभी हम वस्तु और जगत् को अपने से स्वतन्त्र, 'जो अपने आप में है' इस रूप में देखते हुए उस पर विचार कर सकते हैं। बिल्ली में भी इन्द्रिय होती है, लगता है कि ऐसा आश्वासन भी होता है कि जो है वह अपने आप में है – शायद हम से ज़्यादा ही होता है; बिल्ली हमारी तरह अंदर ही अंदर संशय जगा कर डावाँडोल नहीं होती रहती। जो एषणायें उसके मन को पूरी तरह चलाती हैं, उनकी पूर्ति वह बाहर जगत् में पाती रहती है, पर उन एषणाओं से अलग भी जगत् अपने आप में कुछ है, यह सोच उसकी चेतना में समा ही नहीं सकता। एषणाओं से बाहर नहीं निकलता उसका मन; यह नहीं पूछता कि एषणा जिसे चाहती है वह क्या अपने आप में है, है तो क्या है? यह भी नहीं पूछता कि क्या एषणा के प्रपंच में फँसा जीवन उचित है, श्रेय है? बिल्ली में बुद्धि भी होती है, सहज, स्वार्थ-साधती बुद्धि, जो उसकी जिजीविषा के साथ बिंधी रहती है – बड़ी चालाक होती है बिल्ली – पर उसकी बुद्धि में विशुद्ध जिज्ञासा नहीं जागती, वह तटस्थ होकर विचार नहीं कर सकती; जगत् को, अपने आप को अपनी जिजीविषा से अलग रख कर देख ही नहीं सकती। किसी विषय की जिज्ञासा और उसके सत्य के संधान में बसा विचार तो आत्मचेतना ही कर सकती है, क्योंकि विचार में विचार *पर* विचार की भी अपेक्षा होती – और विचार की सीढ़ियां आत्मचेतना में ही बनती हैं। गाय-घोड़ों में या बंदर में – जो हमारे निकट है – इनमें प्रश्न और विचार, विचार का आत्म विचार, ऐसा कुछ नहीं होता, चाहे आत्मचेतना की कोई किरण दिखती भी हो। जन्तु-जगत् में और नीचे उतरो – कीड़े-मकोड़ों की बात करो तो उनमें चेतना और भी विषय-मग्न जान पड़ती है। जिसे याज्ञवल्क्य ने एषणा कहा है – उसी के बस में रहती है वह चेतना। अपनी जिजीविषा के हाथों चलती रहती है – या यों कहो कि चलाई जाती रहती है। वह तो बस बेबस, जीते रहने के बहाव में परतन्त्र बहती है - प्राण-रक्षण और धारण में ही पूरी तरह लगी रहती है – खाना-पीना, अपने को बचाये रखना, बच्चा जनना इसी में डूबी रहती है। अपने यंत्र-चालित से जीवन से हट कर पशु-चेतना संसार को *देखती* नहीं है, क्योंकि अपने को नहीं देखती। पशु में भी

अहंकार होता है, पर 'मैं हूं' यह बोध नहीं होता। तभी वह दर्पण में अपने को पहचानता नहीं है। तभी बाहर और भीतर का भेद भी उसके लिये कुछ नहीं है।

चेतना में आत्मचेतना की आँख मनुष्य में सहसा यों खुलती है जैसे शिव की तीसरी आँख।

साथ ही देखने और होने का एक पूरा नया आयाम, नया क्षितिज खुलता है। पशु-चेतना में इस आयाम की कल्पना ही नहीं हो सकती थी। कोई *कारण* नहीं था जो चेतना के इस मोड़ को कार्य या परिणाम के रूप में किसी भी तरह *नियत* कर देता। इस मोड़ को आगन्तुक कह दिया जाता है – पर यह निर्विचार की सीमा लगती है। ऐसा कहने वाले वास्तव में चेतना को ही आगन्तुक कहना चाहते हैं – सच पूछो तो मिथ्या ही कहना चाहते हैं। पर फिर विचार ही मिथ्या हो जायेगा जो सत्य-मिथ्या का निर्णय करता है। अपने अनुभव पर ध्यान दो – हम पाते क्या हैं? हमें विचार पर विचार पर विचार..., जैसा हम कर ही रहे हैं, इसका बेरोक विस्तार बिछा मिलता है। यह भी देखो कि सिद्धर्षि जिसे मनुष्य का व्यवहार – मनुष्य के अपने रहने-जीने का संसार कहता है – उसका भी आत्मचेतना के साथ रूपान्तर हो जाता है। उसमें श्रेय-बोध, उचित-अनुचित-विवेक आ समाता है। मनुष्य अब सहज ही एषणा से परे अर्थ का संधान करता है – मनुष्य-समाज, सभ्यता, संस्कृति, इनकी संस्थायें, राज्य, न्याय, कानून, धर्म, और यही नहीं, विज्ञान, दर्शन, साहित्य, कला – और क्या क्या गिनाऊँ – यह सब कुछ आत्मचेतना के साथ मनुष्य में अर्थ के क्षेत्र बन जाते हैं – इन्हें क्या होना चाहिये, इनके होने में ही अंतर्निहित होता है। ये आत्म-चेतना के अपने अलग जगत् कहे जा सकते हैं। इनका स्वरूप क्या है? इनका *होना* कैसा है? इनमें होती वस्तुओं का होना कैसा है? इसका उत्तर हम इन्द्रियों के साक्षात् में नहीं पा सकते। ये जगत् देश-काल में रूप लेते भी हैं तो देश-काल में *होते* नहीं – कविता का होना कैसा होता हैं – या भाषा का, जिसमें कविता होती है? या किसी सिद्धान्त का? या बैंक का? अनुभूति ने अभी संख्या की बात की। संख्या के अनंत को संख्या-क्रम के आक्षेप से बनी कल्पना कहा। पर संख्या क्या है – उसका होना कैसा है? वह तो देश-काल में नहीं होती – होती तो उसमें अनंत की या शून्य की बात ही नहीं बनती। तो क्या संख्या कल्पना है? तो फिर विज्ञान भी कल्पना ही हो जायेगा! पर विज्ञान को अगर हम देश-काल में होती वस्तु के स्वरूप का सच्चा संधान-कर्त्ता मानें तो संख्या जैसी वस्तु को कल्पना की तरह असत् नहीं कह सकते! हम 'क्या है' की बात करें तो अर्थ के इन क्षेत्रों के और उनमें होती वस्तुओं के 'होने' का सवाल अनायास खड़ा होता दिखता है। और इन क्षेत्रों के बिना हम मनुष्य भी नहीं। हम मनुष्य-व्यवहार के जिस जगत् में रहते हैं, उसमें इन्हीं के बीच तो रहते हैं। पर हम 'क्या है' की बात करते हैं तो इस पत्थर, उस समोसे जैसी चीज़ों पर ही अटक रहते हैं जिन्हें देख-छू सकते हैं जो इन्द्रियों के आगे होती हैं। पर संस्कृति, सभ्यता या धर्म या कानून या कला इनका होना कैसा है? हम जल्दी से नहीं पूछते क्योंकि ये इन्द्रिय-बोध से परे होते हैं, देश-

काल में नहीं होते। पर हम *इन्हीं* में होते ही नहीं, इन्हीं से *बने होते* हैं, इन्हीं के स्वरूप में *ढले होते* हैं। हम इन पर विचार भी कर सकते हैं, पर इनसे हट कर इन *पर* – इनके स्वरूप पर – सवाल करना आत्मचेतना और विचार–चेतना में और ऊपर उठने की मांग करता है – ऊपर की सीढ़ियां दिखाता है। अभी मैंने समोसे की बात की। पत्थर के साथ उसका नाम लिया। पर समोसे का होना पत्थर के होने जैसा नहीं है। हम कह चुके हैं कि समोसा निर्मित वस्तु है। अर्थ यह हुआ कि उसका होना मनुष्य के होने को मान कर चलता है – सभ्यता–संस्कृति को मान कर चलता है, और ये आत्मचेतना को मान कर चलते हैं। तभी एक बात तो मुझे स्पष्ट लगती है : यह कि इनके 'है' के साथ एक 'होना चाहिये' का भाव, एक आदर्श पिरोया रहता है – जैसा कि व्यवहार के साथ भी रहता है। सभ्यता–संस्कृति, धर्म, कविता, कानून... ये मनुष्य के होने के अंग हैं। हमारे व्यवहार के भीतर ही पनपते हैं। बल्कि यह सोचो कि इनके बिना, इनसे अलग अपने आप में व्यवहार क्या होगा? ऐसी बुद्धि की कल्पना ही होगा जो मनुष्य को और उसकी आत्मचेतन जिजीविषा को पशुओं की पंगत में ही रख कर देखना चाहेगी। (सिद्धर्षि की ओर देखते हुए) घबराओ मत। कला, धर्म, राज्य, समाज..., इनका होना कैसा है? इनका स्वरूप क्या है? ऐसे प्रश्न में मैं यहां नहीं जाऊँगा। पर इतना तो दिखता है कि ये भी विचार के विषय हैं। और देश–काल में नहीं हैं तो 'होने' को देश–काल में बाँध रखने के औचित्य पर टेढ़ा सवाल उठाते हैं। फिर ये अपने आप में अगाध भी हैं – वैसे ही जैसे देश–काल का जगत् अगाध है – तभी तो विज्ञान एक न–रुकती यात्रा है। पर देश–काल के जगत् की तरह ही सभ्यता–संस्कृति, न्याय, धर्म, कला... ये भी अपने आप में जिज्ञासा के विषय हैं – जगत् की तरह ही द्रष्टा के दृश्य; तो अचंभा क्या कि इनके होने के सम्बन्ध में भी वही सवाल उठे जो पत्थर के बारे में या जगत् के बारे में उठता है – कि ये क्या हैं? हमारी बुद्धि इन पर विचार करती ही है – पर इन पर विचार करते हुए उसे यह भी ध्यान रहता है कि इनको चेतना से अलग नहीं रखा जा सकता – ये आत्मचेतन चेतना के अपने स्वरूप से बँधे हैं।

याज्ञवल्क्य इनकी बात नहीं करते। पर करते तो इन्हें भी दृश्य की कोटि में ही रखते। मुझे लगता है कि इन्हें भी वे आत्मा की उसी अवर कोटि में रखते जिसे वे आर्त आत्मा का नाम देते हैं। इनके खोल या कंचुक से निकलना उनकी अंतर्यात्रा का पहला पड़ाव है – शिशु जैसा हो जाना : संस्कृति, सभ्यता, समाज, धर्म... इनके सारे संस्कार जो हमारी चेतना को बनाते हैं, जिनके साथ हम आत्मचेतन होते हैं, चेतना के उस धरातल को बिलकुल धो–पोंछ कर कोरा कर देना। क्योंकि चेतना अब अपने आप में विलीन हो जाना चाहती है। हम विचार की जिन सीढ़ियों की बात कर रहे हैं वे भी उसे अपने से पराई, अपने से बाहर ही दिखती हैं। पर यह भी सोचो कि जिस चेतना के साथ इन सभ्यता–समाज, धर्म–विज्ञान.जैसे क्षेत्रों का उदय होता है वह इनको अर्थ के रूप में देखती है, इनके सत्य को ढूँढती है और अर्थ–बोध के साथ परखती चलती है। सबसे बड़ी बात यह कि याज्ञवल्क्य जिस और भी

अगाध खोज की बात करते हैं, वह भी इसी चेतना के साथ उभर कर आगे आती है। मुझे तो यही दीखता है कि आत्मचेतना चेतना की यात्रा का वह पड़ाव है – शायद पहला पड़ाव – जहां से उसकी *अर्थ*-यात्रा का वास्तव आरम्भ होता है। और, अनुभूति, यह भी देखो कि वह अब अपनी पिछली प्रवृत्तियों को नकारने भी लगती है – हिंसा से हट कर प्रेम की ओर बढ़ने लगती है; अपनी एषणाओं से ही ऊपर उठ जाना चाहती है। तभी तो याज्ञवल्क्य की यात्रा बनती है। और याज्ञवल्क्य की ही नहीं, किसी भी विज्ञान, धर्म, दर्शन... जैसे संधान की यात्रा तभी बनती है। पर कहां जा रही है यह यात्रा? इस बात को इसके पिछले सिलसिले से नहीं देखा-जाना जा सकता – जेसे कि संख्या के क्रम की अगली कड़ी को जाना जा सकता है। यह उन्मेष की यात्रा लगती है – आगे क्या अवतार लेगी कौन जानता है!

**शिखा** : आत्मचेतना के बारे में मैं भी सोच रही थी। विचार करो तो आत्मचेतना पर अनायास ध्यान जाता है – विचार तो स्वभाव से आत्मचेतन होता है। (आकाश की ओर देखते हुए) : यह ठीक है, आकाश, कि आत्मचेतना मनुष्य में ही है – दूसरे जीवों में नहीं है। तुम कहते हो कि आत्मचेतना सभ्यता-संस्कृति आदि का आधार है - यह सोचने की बात लगती है। तुम्हारे कहने का आधार क्या, इस पर विचार करना होगा? तुमने कुछ इंगित दिये – एषणाओं के निमज्जन से सर उठा कर अपने को विषय में रूप में देख पाना, इसलिये अपने और विषय के स्वरूप को अपने से अलग रख कर उसके सत्य की खोज कर पाना। 'क्या होना चाहिये' के बोध का यही आधार लगता है। सभ्यता-संस्कृति का इससे सम्बन्ध हो सकता है, पर संख्या का इससे क्या सम्बन्ध? याज्ञवल्क्य की खोज का भी साहित्य, कला, विज्ञान जैसी खोजों से सम्बन्ध नहीं बनता दिखता। हां, यह ठीक है कि आत्मा की तरह ये भी अपनी तरह की साधना के साध्य होते हैं। अपनी अपनी तरह से ये सत्य की भी खोज करते हैं। पर अपने स्वरूप की खोज, जो केवल अपने को जानने की ही नहीं, अपने वास्तव 'होने' की भी खोज है, वह अलग लगती है। तभी याज्ञवल्क्य साहित्य, विज्ञान वग़ैरह की तरफ़ ध्यान नहीं देते। पर यह ठीक है कि साहित्य, विज्ञान आदि के क्षेत्र मनुष्य में ही उभरते हैं। इस बात की चर्चा भी बहुत होती है आजकल। मनुष्य का विलक्षण स्वरूप, उसकी साहित्य आदि की सृष्टि, उसकी सत्य की गहरी, लंबी खोज, इस खोज का इतिहास – इन सब की बातें बहुत सुनने में आती हैं। मुझे इन बातों में मनुष्य का अपनी ही आत्म-महिमा का गान भी सुनाई देता है। लगता है, यह कहा जा रहा है कि मनुष्य आप अपना द्रष्टा, स्रष्टा और नेता है – मानो वह आत्मचेतन भी स्वयं अपने भीतर से हुआ है। तुमने सुना ही होगा, आकाश, कि मनुष्य का बड़प्पन ऊँचा करने के लिये ईश्वर के मरने तक की बात की जाती हैं। पर, आकाश, तुम तो ऐसा कुछ कहते नहीं लगते। तुम कहते हो कि मनुष्य में जो खोज है, वह चेतना की अपनी है। उस चेतना का आत्मचेतन होना मनुष्य को माध्यम बनाता है, या मनुष्य में प्रकट होता है। पर चेतना व्यापक है। पशु में भी होती है। याज्ञवल्क्य उसे जड़ या भूत-पदार्थ में भी देखते हैं। तुम्हारा भी विचार उधर ही जाता दिखता है। इस

चेतना को परम चेतना, चैतन्य या चित् कहो – जो पते की बात तुम कह रहे हो, यह है कि मनुष्य में वह पहली बार मानो अपनी ओर मुड़ती है, विचार का रूप लेती है, साहित्य, कला आदि में अभिव्यक्त होती है, और अपने आप को और अपने जगत् को जानना-पहचानना चाहती है, अपने अनुकूल बदलना भी चाहती है। याज्ञवल्क्य इसी चेतना को ब्रह्म कहते हैं, उसे ही सब कुछ का स्रष्टा ही नहीं, अंतर्यामी कहते हैं।

पर एक सवाल यहां मेरे मन में जागता है : वह चेतना परम चेतना है, स्रष्टा है, तो मनुष्य के पहले वह क्या अपने आप से बेगानी थी? बात समझ में नहीं बैठती। शायद तुम्हारा जवाब होगा कि बात क्रम-विकास की है। क्रम-विकास काल में होता है – पर चैतन्य या चित् अगर देश-काल से परे है तो उसमें विकास का *क्रम* कैसा? वास्तव तो नहीं हो सकता। (सोच कर) : संख्या के क्रम की तरह उसे विचार-निष्ठ ही कहा जा सकता है। संख्या का क्रम काल में नहीं होता, क्योंकि संख्या ही काल में नहीं होती। हम बैठ कर कुछ गिनने लगें – काग़ज़ पर, ब्लैक-बोर्ड पर या कम्प्यूटर पर भी – तो यह काल में होता है – पर संख्या का क्रम काल में *रूप* ही लेता है, या कहो, अभिव्यक्त होता है, पर काल में *होता* नहीं। चेतना के साथ भी यही होना चाहिये। फिर उसका किसी विकास-क्रम में अपनी ओर मुड़ना, इसका क्या अर्थ? वह तो जैसी है वैसी ही रहेगी। संख्या ही की तरह। हां, *हमारी* खोज की बात करो तो *खोज* हम काल में ही करते हैं! हम रहते ही काल में हैं। *हमारा* 'होना' काल में है। फिर भी विचार काल के बाहर है। गणित, साहित्य, कला वग़ैरह, मेरी समझ में ये विचार के ही रूप हैं। मुझे लगता है कि याज्ञवल्क्य जिस आत्म को 'पा' लेने की बात करते हैं, वह भी विचार *में* ही है। मनुष्य और उसकी अवर आर्त आत्मा, ये तो काल – और देश – के बाहर नहीं निकल सकते। विचार में ही मनुष्य देश-काल को लाँघ सकता है। ब्रह्म चाहे देश-काल के बाहर हो पर हम जो ब्रह्म को पाना चाहते हैं, हम तो देश-काल के ही भीतर हैं। कह सकते हो ब्रह्म को पाने की खोज चेतना की अपनी खोज है – अपनी स्वतन्त्र खोज है – जो काल से परे है, मनुष्य में रूप लेती है, मनुष्य की अपनी 'होती' नहीं है। पर ब्रह्म तो अपने आप में सतत स्थित है, वही चेतना है, फिर खोज कैसी? बात समझ में नहीं आती, या फिर कोई गूढ़ रहस्य है।

(बात को दूसरी ओर ले जाते हुए) : हां, मनुष्य – मनुष्य व्यक्ति – में स्वातन्त्र्य है और आत्मचेतना के साथ ही वह अपने को स्वतन्त्र पाता है – और तभी वह विचार कर पाता है, तभी उसके लिये प्रश्न उठता है कि 'मैं क्या करूं'? उसमें अपने किये का दायित्व जन्म लेता है – जिसके बिना मनुष्य-समाज ही नहीं हो सकता। यह मनुष्य की अपनी करनी नहीं कहला सकती। आत्मचेतना और स्वातन्त्र्य मनुष्य अपने आप में नहीं उपजाता। हम *पाते* हैं कि हम विचार में, कर्म में, स्वतन्त्र हैं – नहीं होते तो न अपनी अपनी तरह सवाल उठाते, न दायित्व का अनुभव करते। पर एक पहेली ही खड़ी दीखती है मुझे यहां। में अगर सवाल करूं कि मनुष्य में कहां से आई यह आत्म-चेतना और इसके साथ दायित्व-बोध,

विचार-चेतना? तो उत्तर समझ में नहीं आता। ऐसा तो बिल्कुल नहीं कह सकती कि यह मनुष्य की अपनी आत्मसृष्टि है, या अपनी चेष्टा से मिली कोई उपलब्धि है। 'मनुष्य ने अपने आप को बनाया' यह कहने का तो कोई अर्थ ही नहीं बनता दिखता मुझे। फिर आत्मचेतना अगर व्यक्ति में होती है तो यह कहने का अर्थ और भी नहीं बनता कि मनुष्य *व्यक्ति* अपने को आत्मचेतन करता है। मनुष्य व्यक्ति की आत्म-चेतना, उसकी स्वतन्त्रता, उसका अपना *सृजन* नहीं है। व्यक्ति समाज में होता है, वहीं व्यक्ति का रूप लेता है – बच्चे को जानवरों में पलने दो तो वह मनुष्य-व्यक्ति नहीं बनेगा। पर आत्मचेतना मनुष्य समाजों में तो नहीं होती। (कुछ हैरानी के साथ) : पर समाजों की भी अपनी सी चेतना होती ही है – तभी समाजों में संस्कृति का रूप लेती है, अलग समाज में अलग संस्कृति - जो व्यक्ति-चेतना को रूप देती है। उसी चेतना में व्यक्ति स्वतन्त्र होता है। पर समाज-संस्कृति में जो चेतना रूप लेती है, वह कहां से आई? समाज-संस्कृतियां विविध होती हैं – उनमें रूप लेती चेतना कोई ऐसी उभय-सामान्य चेतना ही हो सकती है जो मनुष्य से ऊपर हो, किसी रूप में परम हो और अरूप, अदृष्ट रह कर किसी संभावना से 'नियमित' हो – या कहो कि 'अंतर्यामी' हो। और यह रूप वह काल में ही लेती दिखती है, एक विकास की शृंखला के भीतर। यों लगता है कि मनुष्य में जागती समाज-चेतना और व्यक्ति-चेतना गाय-जाति या घोड़ा-जाति की चेतना की तरह किसी परम चेतना की ही अभिव्यक्ति कही जा सकती है। यह ऊर्ध्व चेतना पशु-समाजों से मनुष्य-समाज में ऊर्ध्वतर होती भी देखी जा सकती है – मनुष्य को यह संस्कृति देती है, स्वातन्त्र्य, विचार, दायित्व देती है, जिनकी पशु में कल्पना भी संभव नहीं। मेरे लिये अनबूझ पहेली भी खड़ी करती है। पर इसमें मुझे शक नहीं कि व्यक्ति का अपना *निजी* स्वातन्त्र्य भी उसे *मिला हुआ* होता है। उसे 'निजी' कहने का अर्थ भी मुझे एक पहेली ही लगता रहा है। वह अपनी इच्छा-एषणा से उठ कर ही स्वतन्त्र होता है – पर 'निजी' तो उसकी इच्छा-एषणा ही होती है! पशुओं की अस्वतन्त्र चेतना को अगर पशुओं की सृष्टि नहीं कह सकते तो मनुष्य की चेतना को – मनुष्य व्यक्ति की ही अपनी 'स्वतन्त्र' चेतना सही – उसे मनुष्य की सृष्टि कैसे कह सकते हैं! फिर भी, व्यक्ति के रूप में ही मैं आत्मचेतन होती हूं, अपने को स्वतन्त्र समझती हूं, सोचने में भी, कुछ करने में भी – चाहे याज्ञवल्क्य की तरह ब्रह्म की साधना ही क्यों न करूं। अनुभूति ने मैत्रेयी की बड़ी गहरी कथा सुनाई। पर मैत्रेयी जो कह रही थी, जो चाह रही थी, अपने व्यक्तित्व के स्वातन्त्र्य में ही कर रही थी। तभी हम यहां *मैत्रेयी* की सराहना करते हैं। पर यह भी है – पहेली ही है – कि वह उस अमृतत्व की चाह कर रही थी जो व्यक्ति के देश-काल में तो नहीं ही समा सकता। यह तो ब्रह्म कहलाती वह ऊर्ध्वतम, परम चेतना ही लगती है जिसका आत्मचेतना के साथ हम संकेत पाते हैं – परम् द्रष्टा, परम मन्ता के रूप में। हां, आकाश, यहां कह सकते हो कि वह चेतना अपने भीतर मुड़ती हुई मनुष्य-भाव से भी ऊपर उठ जाना चाहती है, अपने शुद्ध स्वरूप को पा लेना चाहती है। याज्ञवल्क्य इसी बात के तो साक्षी हैं। पर, आकाश, एक बात

पूछूं, तुमने जीवाणु से मनुष्य तक चेतना के विकास की बात की – मनुष्य में ख़ास उन्मेष भी देखा, आत्मचेतना का – पर मनुष्य में तो कमियों का ही अंबार दिखाई देता है, क्या चेतना कोई और सार्थक रूप नहीं ले सकती थी, अगर उसे जीव-रूप ही लेना था तो?

(अपने विचार को एक थोड़ा सा मोड़ देकर बढ़ाते हुए) : एक बात कहती हूं। मनुष्य को पशुओं के क्रम में रख कर देखो तो सचमुच लग सकता है कि आत्मचेतना चेतना के भीतर कोई अचानक-आया-सा विस्फोट है – क्रान्ति है। मनुष्य के पहले चेतना में 'भीतर' जैसा कोई अपने में जटिल, गुत्थिल, कई प्रवृत्तियों, भूमियों में बँटा कोई अलग स्थान बनता ही नहीं दीखता। पशु-चेतना बाहर-जाती, बाहर-निमग्न चेतना है – किसी भी पशु को ले लो। मनुष्य में ही वह भीतर कोई घर बनाती है। मानो सहसा अपने ही भीतर मुड़ती है तो अपने भीतर को 'पाती' भी है। अपने आप को देखने-खोजने लगती है। इस अपने-को-देखती चेतना में ही यह बोध जागता है कि वह अपने 'बाहर-देखने' को जाने-समझे। अपनी बाहर-भीतर की गतियों को परखे। अपने स्वरूप की थाह ले। यही चेतना अब 'क्या है' का सवाल उठाती है, जिसे हम उठा कर आगे चले थे। अपनी ओर देखती है तो अपनी प्रवृत्तियों के दोष भी देखती है, तभी 'क्या होना चाहिये' के सवाल से भी यही चेतना परेशान होती है।

पर एक बात मुझे साफ़ दीखती है। यहाँ जो विकास-क्रम है वह जीव-विज्ञान का क्रम नहीं है। जीव-विज्ञान हमारे भीतर के चेतन विस्तार को नहीं देखता। वह मनुष्य को एक क्रम-विकास की सीढ़ी पर सबसे ऊपर तो रखता है, पर इसलिये कि मनुष्य जीवन-धारण में और अपनी एषणा पूरी कर पाने में सबसे तेज़ है। पर मनुष्य की आत्मचेतना एषणाओं का नियन्त्रण भी करना चाहती है, उनसे ऊपर भी उठना चाहती है। बात यहां सफल जिजीविषा साधने के किसी सीधे-सरल क्रम की नहीं लगती – आत्मचेतना में एक अनहोनी उत्क्रान्ति है जो बाकी जीव-जगत् से उसे एकदम से अलग कर देती है। मुझे लगता है कि इस बात में बाइबल और पुराण जैसे ग्रंथों की दृष्टि में ज़्यादा पैठ है कि वे मनुष्य को दूसरे जीवों से अलग और ऊपर इसलिये रखते हैं कि उसमें अदृष्ट की प्यास है। जीव-विज्ञान बुद्धि-कौशल के विकास की बात करता है – और यह भी उसके लिये आगन्तुक-यादृच्छिक ही हो सकती है। जीव-विज्ञान के लिये मनुष्य में 'क्या है' की जो बारीक़ समझ है वह उसकी जिजीविषा को ही अधिक सक्षम बनाने का साधन कहला सकती है – वह अपने परिवेश को अपनी सुविधा के अनुकूल बनाने में सबसे अधिक समर्थ है। पर मनुष्य में प्रेम है, अहिंसा है, मैत्रेयी जैसी अमृत की विचित्र प्यास है जो क्रम-विकास से बिलकुल समझ में नहीं आती। मनुष्य 'जो है' उससे ऊपर, उससे श्रेयस्, उससे और सत्य कुछ हो जाना चाहता है – उसकी 'होना चाहिये' की खोज उसे निरे जिजीविषा के घेर से सहसा दूर ले जाती है। यही उसकी अपनी – अपने ही वास्तव स्वरूप की – खोज है। और यह उसमें आत्म-चेतना के विस्फोट का ही फल लगता है। हम पूछ सकते हैं, क्यों हुआ यह विस्फोट? आकाश ने ठीक

ही कहा, इस विस्फोट के किसी 'कारण' की बात वृथा मालूम होती है, क्योंकि इसे कार्य नहीं कह सकते – कार्य कारण के परतन्त्र होता है, अपने स्वरूप में उसीका अनुगमन करता है। स्वतन्त्र तो सृजन होता है; इसे सृजन ही कहना चाहिये – अर्थ का अकारण उन्मेष। चेतना का आत्मचेतना में फूट निकलना एक बिलकुल नये आकाश के खुलने की बात है, या उन्मेष की बात कहो, उसे कार्य या परिणाम नहीं कह सकते, एक नई अनहोनी क्रान्ति ही कहना चाहिये। पर फिर भी हम यह पूछ सकते हैं कि क्यों आई यह क्रान्ति? इस 'क्यों' – या कहो कि 'किस लिये'— का *हमारी* समझ में आ सकता कोई उत्तर नहीं हो सकता। चेतना का स्फुरण कारण से ही नहीं ऐसे प्रयोजन से भी परे है जो हमारी समझ में आ सके। निगूढ़ रहस्य ही हो सकता है। इसे चेतना के स्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति कह सकते हो। या वैदिक ऋषि की तरह चेतना में 'काम' के जागने की बात कर सकते हो – पर 'काम' भी यहां स्वातन्त्र्य का ही दूसरा नाम होगा। बाहर कहीं से आती प्रेरणा? जड़-जगत् से तो आ नहीं सकती। जिसे हम जड़-जगत् कहते हैं वह कहां से आया? अगर वह पहले से था तो वही आधार-तत्त्व हो जायेगा। चेतना फिर एक मिथ्या इन्द्रजाल ही हो सकती है, और वह भी एक सरासर आगन्तुक, निरर्थक इन्द्रजाल – विज्ञान ऐसा ही कहता लगता भी है – क्योंकि वहां परमाणु और ऊर्जा या परमाणु-ऊर्जा ही सब कुछ हैं और ये जड़ के रूप हैं। पर फिर तो विचार का, ज्ञान का, सोचने-समझने का ही कोई अर्थ न होगा, विज्ञान विचार है तो वह भी इन्द्रजाल ही होगा। सब कुछ अंधकार में दिखते मायामय निशाचरों का ही दूसरा नाम होगा। पर यों भी सोचो : अगर जड़ चेतन का कारण हो सकता है तो यही मानना होगा कि जड़ में चेतन गूढ़ रूप से अव्यक्त है। पर जड़ में चेतन के गूढ़ होने का क्या आशय बनता है? फिर वह जड़ ही कैसे होगा? संगत तात्पर्य यही हो सकता है कि जड़ चेतन का ही रूप है – जो कुछ है, चेतन है और वह एक परम तत्त्व है जो सब कुछ में रूप लेता है। हम 'होने' के या तत्त्व के बारे में किसी निष्कर्ष पर पहुँचना चाहें तो हमें अपने होने को, अपने विचार के होने को, सोचने-समझने को आधार बना कर चलना चाहिये – इनके द्रष्टा-भाव को और उसके सत्य को मानते हुए – नहीं तो हम किसी तत्त्व की ओर बढ़ ही नहीं सकते। याज्ञवल्क्य यही संकेत दे रहे हैं – और यही युक्त लगता है। पर यह प्रश्न फिर भी रह जाता है कि चेतना जगत् के और हमारे, ऐसे विचित्र रूप में क्यों अभिव्यक्त होती है, वह 'आर्त' क्यों हो जाती है? इसका क्या उत्तर हो सकता है? हममें कोई गिला-शिकवा हो तो हम चेतना को बैठे बैठे कोस सकते हैं, उसकी ईश्वर के रूप से कल्पना करते हुए उस पर लानत भेज सकते हैं – या अपनी कल्पना में उसकी हत्या ही कर दे सकते हैं। कुछ लोग ऐसा करते दिखते ही हैं। पर हम याज्ञवल्क्य की तरह उसे भीतर से जानने की ओर भी बढ़ सकते हैं।

(विचार की एक नई, शांत, विवेचना-प्रधान दिशा लेते हुए) : हम 'क्या हैं'? इस सवाल से चले थे। हमारे विचार में 'होने' के प्रयोजन की – या कहो अर्थ की – भी बात उठी थी। इसलिये कि अगर होने का कोई सार्थक प्रयोजन ही न हो तो होने और न होने के

भेद में ही कोई सार नहीं रह जाता – जो है वह नहीं भी हो सकता था। 'होना' एक बिलकुल खोखले से संयोग की बात हो जाता है। पर होने के प्रयोजन की हम बात करें तो एक बात ध्यान में रखनी चाहिये। सृष्टि का प्रयोजन हम कितना समझ सकते हैं? सृष्टि हमारे लिये रहस्य है। हमारी समझ के प्रयोजन तो हमारे होते हैं जो हमारी एषणाओं का ही दूसरा नाम समझो। हमारे 'क्या है' के प्रश्न का भी ऐसा ही प्रयोजन हो सकता है। एक बड़ा प्रयोजन यही है कि जो है उसे जान कर अपने काम में ले सकें। यही विज्ञान का बीज है। सिद्धर्षि इस बात को कई तरह से कह चुका है – व्यवहार प्रयोजन पर ही टिका है, और सिद्धर्षि ने विज्ञान का व्यवहार से अंतरंग सम्बन्ध दिखाया ही है। पर *अर्थ* दूसरी ही बात है। उसका हमारे प्रयोजन से मतलब नहीं। वह आप अपना प्रयोजन है। पर एक सवाल फिर भी कचोटता है। होने का कोई गुह्य अर्थ हो भी तो हमारी बुद्धि या संवेदना की पकड़ से परे ही लगता है। मुझे यह लगता रहा है कि होने की पकड़ विचार ही में हो सकती है, क्योंकि विचार ही सृष्टि का आधार है – तभी उसमें योजना है, अर्थ है। चेतना भी विचार ही है। चेतना को – परम चेतना को, उसके विशुद्ध द्रष्टा और मन्ता को – अगर विचार के परे रखा जा रहा है तो यह भी विचार ही कर रहा है, क्योंकि द्रष्टा और मन्ता उसी में समोये हैं, उससे अलग नहीं हैं। चेतना में से विचार के प्रकाश को, उसके द्रष्टा-भाव को, अर्थ-बोध को निकाल दो, फिर बचेगा ही क्या? जो बचेगा वह होने का अभाव होगा या नितांत जड़ का अंधापन होगा – पर इनका 'बचना' भी विचार के लिये ही होगा क्योंकि ऐसे 'बचे हुए तलछट या परिशेष' की कल्पना भी विचार ही में सम्भव है। बात हो रही थी कि चेतना जगत् में और हममें रूप लेती है – पर यह रूप लेती चेतना अगर किसी अर्थ के अनुरूप किसी विराट् योजना के साथ नियमन भी करती है तो यह विचार का ही दूसरा नाम हो सकता है। यह न भूल जाओ कि हम जो शब्दों में, अवधारणाओं में ऊहापोह के साथ विमर्श करते हैं वह विचार का एक रूप ही है जो आत्मचेतना में उतरता है। अर्थ और उसकी योजना, उसका नियमन – ये विचार के गूढ़ या अंतर्निहित तत्त्व हैं जो ऊहापोह के परे रहते हैं, पर जिनकी प्रेरणा के बिना ऊहापोह भी निरर्थक ही रहता है। जिसे याज्ञवल्क्य परम ब्रह्म कह रहे हैं, वह विचार का ही परम 'होना' है – और उसे अंतर्यामी कहना यह विचार पर ही पूरा उतरता है।

(कुछ सकपकाते हुए) : मैं यह बात कह तो रही हूं, पर कहते हुए ही मुझमें यह ठिठकाव भी है कि क्या सृष्टि का स्वरूप, उसका अर्थ, विचार में भी समा सकता है? विचार ही यह प्रश्न भी उठाता है, और तिलमिला देता है।

(कुछ और सोच कर, एक गंभीर स्मित के साथ) : आकाश ने अभी शिव, सुन्दर जैसे शब्दों का प्रयोग किया था – ये अर्थ का ही इंगित करते हैं। आकाश ने 'सत्य' की भी बात की थी, पर शिव, सुन्दर के साथ 'सत्य' का आशय 'शिव, सुन्दर के अनुरूप' ही हो सकता है – अर्थात् 'ऐसा होना जिसके मर्म में श्रेय है, सौषम्य है' – दूसरे शब्दों में *अर्थ* है। होने का सत्य अगर अर्थमय नहीं हो तो उसमें और नहीं होने में अंतर ही क्या रह जाता है?

सृष्टि का हमारे प्रयोजनों जैसा कोई प्रयोजन न सही, पर उसका 'होना' कितना सुन्दर है! कैसी भव्य-विराट् है सृष्टि, उसकी योजना! उसका यह सौन्दर्य, उसकी अगाध योजना, क्या ये उसको अर्थ नहीं देने के लिये काफ़ी नहीं? और कितना आनन्द है सृष्टि में! सौन्दर्य और आनन्द – इससे अधिक अर्थ और हमें क्या चाहिये? और सृष्टि के रहस्य की किस गहन गुफा में जा पहुँचना चाहते है हम? इनका होना क्या 'होने' को होने-योग्य नहीं बना देता? फिर हममें जो सहज ज्ञान की प्यास है जो प्रश्न उठाती चलती है, विचार जगाती है, उत्तर की खोज में हृदय-मन को सत्य के लिये उत्कण्ठ रखती है – क्या यह अपने आप में सार्थक नहीं है? वास्तव ज्ञान हमारे तुच्छ से प्रयोजनों को पूरा करने के लिये नहीं होता। हम उन प्रयोजनों की कैद से निकल जायें तभी ज्ञान की ओर बढ़ सकते हैं – अपनी एषणाओं से निकल कर। और यही विचार की ओर भी बढ़ना है। सृष्टि हमें आत्मचेतन करती हुई हममें ज्ञान की प्यास इसलिये जगाती है कि हम अपने आप को जान सकें – यही विचार-चेतना का अपनी ओर मुड़ना है। विचार अपने आधार तत्त्व को जानना चाहता है जिससे वह स्फुरित होता है। याज्ञवल्क्य चाहे विचार के परे की बात करते हों, पर उनका ब्रह्म विचार का आधार-तत्त्व ही है। तभी वे अपनी उपलब्धि को विचार में उतार ला पाते हैं।

(आगे क्या कहे, सोचने लगती है, पर कहने को कुछ बचा नहीं लगता है। उसकी चुप्पी के बीच ही सिद्धर्षि बोल उठता है, उसके ऊह में अपोह खड़ा करता हुआ)।

**सिद्धर्षि** : आज तुम सब में अजीब सा अध्यात्म-रोग घर कर गया दिखता है। इन प्राचीन ऋषि-मुनियों से मेरा मन बौखला गया है, खट्टा सा होने लगा है। लगता है ये आदमी को शांति से जीने ही देना नहीं चाहते। यों ही क्या कम मुसीबतें हैं आदमी के लिये! व्यवहार चलाना, व्यवहार में अपनी और औरों की बुद्धि को, समझ को, सयानेपन को बनाये रखना, उखड़ने न देना, इसी 'साधना' में क्या कम क्लेश और सिर-दर्द है। ऊपर से एषणा-बाहर यह परम-ब्रह्म की अदृष्ट, लोकोत्तर ललक - यह भी उठ खड़ी हो तो हो लिया आदमी का इलाज! एषणाओं का संतुलन ही किसी तरह बिगड़ते बिगड़ते बना रहता है आदमी में – और तुम लोग एषणाओं से हटने की बात कर रहे हो। एषणायें छोड़ कर सब याज्ञवल्क्य की तरह, ब्रह्मचारी, संन्यासी हो जायेंगे तो आदमी ही कहां रहेगा!

(कुछ खीझ के साथ) : शायद अच्छा ही होगा। लगता है आदमी में सृष्टि पथभ्रष्ट भी हो गई है। एषणा-मुक्ति, प्रेम, विचार, आदर्श, अमृत, परम सत्य, न जाने कहां कहां की दीवानगी आदमी की चेतना को घेरती रहती है। जो है, आदमी उससे संतुष्ट नहीं, कुछ और हो जाना चाहता है। उसकी ललक, उसके विचार, उसकी कल्पना, उसके आदर्श उसे अपने आपे के बाहर खींचते रहते हैं। यहां तक कि उसका आपा क्या है, यही उसकी समझ में नहीं आता। एक विचित्र सी गुलझट, एक अजीब सा बेमेल, कसैला, बगूले-में-उड़ता तिनका बना रहता है उसका होना। मुझे लगता है कि 'क्या होना चाहिये' की चाह ही आदमी को बेसँभाल रखती है।

(आवेग से हट कर विचार की मुद्रा में, पर विचार का तेवर उद्विग्न है) : आकाश ने या शिखा ने अभी व्यक्ति-चेतना का आधार समाज-चेतना में बताया। कहा कि समाज ही में व्यक्ति आत्मचेतन होता है, व्यक्ति बनता है। पर आत्मचेतना अगर श्रेय-बोध की, उचित-अनुचित-विचार की चेतना भी है, तो समाज-चेतना में इस बोध का आधार होना चाहिये। कुछ तो दिखता भी है। समाज न्याय के नियम बनाते हैं, निःस्वार्थ-परार्थ आचरण और शील के संस्कार देते हैं। (कुछ आवेग के साथ) : पर विकट विडम्बना देखो : समाजों के आपसी सम्बन्ध पर ध्यान दो - सेनायें कौन रखता है, ऐटम-बम कौन बनाता है, युद्ध पर उतारू कौन रहता है? समाज ही रहते हैं। पर यह देखो कि समाज को राज्य चलाता है और राज्य स्वभाव से ही दूसरे राज्य का दुश्मन होता है। राज्यों की दोस्ती धोखे का समझौता ही होती है। तभी सेनायें सदा तैनात रहती हैं – नये से नये हथियारों से लैस, और भी नये हथियारों की खोज में। सम्राट् अशोक की कहानी इसलिये अनहोनी है कि वह अति विरल अपवाद था-उसने युद्ध छोड़ दिया। पर यह भी न भूलो कि सेना तो उसे भी रखनी ही पड़ी थी।

(सोच में पड़ कर, हैरानी के साथ) : एक बात सोचता हूं तो चकरा जाता हूं। माना, समाज-चेतना और व्यक्ति-चेतना में कोई अंदरूनी नाड़ी-धमनी का सम्बन्ध है। ऐसा लगता ही है। पर आत्मचेतना तो व्यक्ति में ही होती है – समाज में नहीं होती – होती तो शायद समाज भी एक दूसरे के साथ दोस्ती निभा सकते थे। पर समाज आत्मचेतन नहीं हैं तो उन्हें फ़र्क भी क्या पड़ता है? सारी परेशानी, सारा *झेलना-भुगतना* तो व्यक्ति के ही सिर पड़ता है। समाज चेतन होता हो, पर उस चेतना में कोई पीर नहीं जागती, कोई सवाल नहीं उठते। व्यक्ति आयें, जायें, पिस मरें, मर मिटें, समाज-चेतना को क्या फ़र्क पड़ता है? जैसे जानवरों की चेतना है – वह तो एड़ी से चोटी तक समाज-चेतना ही जान पड़ती है। मनुष्य की तरह उस चेतना से व्यक्तियों का जन्म नहीं होता। अब चाहो तो उसे मनुष्य की समाज-चेतना से निचली ही कह लो, पर उसमें मनुष्य जैसी अकारण वेदना का बवाल भी नहीं है। व्यक्तियों का वहां कोई मोल नहीं तो व्यक्ति वहां होते भी नहीं – उनकी कोई ज़रूरत ही नहीं। व्यक्ति समाज में ख़लल ही डाल सकता है। वह स्वतन्त्र होता है – समाज से अलग राह अपना सकता है, उसका विरोध भी कर सकता है। याज्ञवल्क्य को ही देखो – वह तो समाज से निकल ही जाना चाहता था। मुझे तो यह लगता है कि व्यक्ति-चेतना का समाज-चेतना से भीतर का नाता सही, पर उसमें एक पूरा अपनापन भी होता है – उसीमें श्रेय-बोध और दायित्व-बोध जागते हैं। तुम लोग चेतना के स्तरों की, चेतना के ऊपर होती चेतना की बात करते रहे हो। तुम्हारी बातों में मुझे भी कुछ दिखने लगा है। मैं सोच सकता हूं कि व्यक्ति-चेतना और समाज-चेतना, इन दोनों के ऊपर कोई व्यापक चेतना है जो दोनों में रूप लेती है। पर मुझे लगता है कि एकदम अलग अलग रूप लेती है। पर जो भी कहो, समाज को कितना ही बड़ा रखो, हमारे लिये तो व्यक्ति-चेतना ही आधार-चेतना है। वहीं हम

आत्मचेतन हैं। वहीं विचार करते हैं, कर्म करते हैं, जिसका दायित्व भी झेलते हैं। सुख-दुख भी वही भुगतते हैं।

(एक नई हैरानी के साथ) : तुम सब ने आत्मचेतना को जीव-जगत् में सबसे ऊँचा बता कर उसके बड़े गुण गाये हैं। उसमें परम-चेतना का – ब्रह्म का – अवतार ही देख लिया। उसमें विराट् के आकाश का सदा-आगे-बढ़ता क्षितिज तुम्हारी आँखों में आ समाया – याज्ञवल्क्य की बातों में आ कर। (अपने पर व्यंग के साथ) : और मुझे देखो, मैं भी तुम्हारी बोली बोलने लगा हूं – दोस्ती कैसे कैसे दाग़ नहीं दे जाती!

लेकिन एक बात गले नहीं उतरती मेरे। तुमने आत्मचेतना में विचार के होने की बात की। यह ठीक है कि आदमी का ज्ञान विचार से ही जनमता है। पर विचार वस्तु से हट कर, तटस्थ हो कर ही वस्तु को विषय बना सकता है और उसे *जान* सकता है। पर यह देखो कि वस्तु जगत्-योजना के अंदर, दूसरी वस्तुओं के साथ बनते सम्बन्धों से ही वस्तु बनती है, उस योजना में ही उसका ज्ञान बनता है। पर ऐसे ज्ञान के लिये आत्मचेतना की क्या ज़रूरत? विचार की क्या ज़रूरत? चिड़ियों को देखो – हज़ारों मील का प्रवास करती हैं हर साल! कहां जाना है, कैसे जाना है, इसका उन्हें सीधा, बेरोक ज्ञान होता है, विचार कहीं आड़े नहीं आता। वे विचार करने लगें तो उनके ज्ञान पर ही पर्दा पड़ जायेगा – सौ संशयों में उलझ जायेंगी। विचार जगत् के ऐसे साक्षात् ज्ञान का साधक नहीं बाधक है। मकड़ियों को देखो, कैसा जाल बुनती हैं। मधुमक्खियों को देखो, कैसे फूलों से पराग निकालने का, पराग से मधु बनाने का सहज ज्ञान रखती हैं – फूल कहां हैं, कितने हैं, कैसे हैं, इसकी ख़बर एक दूसरों को एक नाच से ही दे देती हैं। कैसा बारीक ज्ञान है! चीटियों को देखो – दूसरी जाति के कीड़ों के अंडे उठा लाती हैं, उन्हें सेती हैं, उनके बच्चों को ग़ुलाम बनाती हैं, अपने काम में लेती हैं – लड़ाई में उन्हें सामने रख कर उनसे ढाल का काम लेती हैं। उनकी सहज प्रवृत्ति में ही उनका यह जटिल ज्ञान पिरोया रहता है। उन्हें आत्मचेतना के अपने-आप से और जगत् से *हट कर* अपने-आप को और जगत् को देखने के तटस्थ-भाव की कोई आवश्यकता नहीं होती। यह भाव ही विचार जगाता है, और विचार व्यवधान का ही काम करता है – हमें अपने आप से और जगत् से परोक्ष कर देता है। हम अपने आप पर, जगत् पर और विचार पर भी, संशय ही जगाते रह जाते हैं।

(अब अपनी कही बात से तटस्थ हो, उसे पूर्वपक्ष बना कर विचार करते हुए) : कह सकते हो कि आत्मचेतन विचार में जगत् का सीधा ज्ञान न सही, वह जगत् को जगत्-से-दूर-हटी अवधारणा के माध्यम से ही जानता है – पर यह माध्यम जगत् की जिन बारीकियों में उतर सकता है, उसकी योजना का जिस विस्तार और व्यापकता से आकलन कर सकता है, वह पशु में संभव नहीं। विज्ञान इसका साक्षी है। लेकिन देखने की बात यह है कि विचार हमारी जिजीविषा को ही ऐसा क्लिष्ट बना देता है, हममें ही ऐसी विचित्र जगत्-से-अलग-ले-जाती प्रवृत्तियां जगा देता है कि हम जगत् के ही नहीं रहते – उसके लिये बेगाने, पराये

हो जाते हैं। (पृथु की ओर देखते हुए) : पिछली बार शायद तुमने ही बाइबल से आदम के स्वर्ग-निकाले की कहानी सुनाई थी – आदम को निकाला इसलिये गया कि उसमें ज्ञान की प्यास जाग उठी थी। हम सबको – और मुझे भी – बड़ा अटपटा लगा था कि निकाल दिये जाने का यह क्या कारण हो सकता है? जिज्ञासा तो पुण्य है, उसे शैतान का दिया लालच, पाप, कैसे समझ लिया ईश्वर ने! पर अब सोचता हूं तो बात वैसी अटपटी, विसंगत नहीं लगती। आदम – आदमी – में जिज्ञासा जागी तो इसका मतलब है कि वह आत्मचेतन हुआ। और इसका मतलब है कि वह सृष्टि से अलग हुआ, उस पर *विचार* करने लगा, प्रश्न करने लगा, उसे अपनी तरह परखने लगा। वह सृष्टि का सहज *अंग* नहीं रहा – उसकी योजना के प्रवाह में जल की बूंद नहीं रहा, जहां योजना के भीतर से ही वह योजना को 'जान' सकता था। जैसे पशु जानते हैं। स्वर्ग से निष्कासन आदम ने अपने आप को दिया – उस शैतान की प्रेरणा से जो उसके भीतर ही था। सच पूछो तो स्वर्ग से निष्कासन उस अकेले को ही मिला – रहता तो वह दूसरे जीवों के साथ ही है, पर उसीके संसार को पाप की छूत लग गई। आत्मचेतना उसे जगत् पर नियन्त्रण देती हो, पर पाप-पुण्य के घोर व्यूह में भी फँसा देती है, उसे बोध के सहज प्रवाह से निकाल कर विचार के जंजाल में उलझा देती है।

(कुछ और झल्लाहट के साथ) : फिर भी आदमी अपने संस्कार-व्यवहार की सहज धारा में अपनी आत्मचेतन पतवार चलाता प्रवाह के साथ निष्कटंक बहता ही रहता है – उसकी आत्मचेतना भी उसके व्यवहार के साथ ही बहती रहती है। ज़्यादा सर नहीं उठाती। व्यक्ति-चेतना समाज-चेतना में लीन सी रहती है – उसीकी गडार पर चलती रहती है। विचार करनेवाले ही झमेला खड़ा करते हैं। तुम लोगों को देखो – और मैं भी तुम्हारी मण्डली में ही आ फँसा हूं – तुम लोग उपनिषद् के फेर में आ कर आत्मचेतना के अर्थ-क्षेत्रों, स्तरों और पड़ावों की भी बात कर रहे हो। ये बातें आदमी को सुख से अपनी सहज की नदिया में बहने नहीं देतीं, लोकोत्तर के बखेड़े खड़ा करती हैं। 'होना चाहिये' का झंझट! आदमी को अपने होने से ही उखाड़ कर रख देती हैं। सवाल पर सवाल उठ जाते हैं। यह सारी करनी विचार की है। वही शैतान है। अपने ही भीतर उलझ-पुलझ कर अपना ही मकड़जाल हो जाता है, और आदमी को, उसके सहज से जगत् को भी अपने भीतर फँसा के गांठ-गांठ कर छोड़ता है। अपने को सत्य का खोजी मानता है विचार – नहीं तो उसका होना ही क्या – पर उसकी जड़ें किसी सत्य में जमी तो बिलकुल नहीं दीखती हैं – मिथ्या कल्पना ही खड़ा करता रहता है।

(फिर अपनी ही बात पर ही अमर्ष-बोध के साथ) : पर मुझे देखो! मैं भी विचार के फेर में पड़ कर ही विचार पर लानत भेज रहा हूं। विचार से खेद भी विचार में ही जागता है। विचित्र दुविधा है आदमी की, विचित्र है गति! याज्ञवल्क्य इसीसे निकलना चाहते होंगे। तभी उनका ब्रह्म वहां है जहां विचार पहुँच ही नहीं सकता। मनुष्य पशु तो नहीं हो जा सकता –

उस सहज निर्विचार चेतना में जाना आत्मचेतना के लिये सम्भव नहीं। पर वह आत्मचेतना से ऊपर उठ जा सकता है, विचार के प्रपंच और सिलसिलों के चक्कर से परे।

(कुछ और कहना चाहता है, पर मानो बात सामने आ नहीं रही है, सूझ नहीं रही है। चुप हो जाता है)

**पृथु** : सिद्धर्षि, सुनो, मैं इधर कुछ पढ़ रहा था तो कुछ बड़ी दिलचस्प बातें सामने आईं – आत्मचेतना के बारे में। तुम्हारे सुर से अलग हैं, पर उसका संवादी भी कह सकते हो। याज्ञवल्क्य से इनका सुर पूरे विवाद में है – उसको काटता हुआ। शिखा ने अभी ईश्वर के मरने की बात की। तुमने भी सुना होगा कि कई लोग हैं जो ईश्वर के होने से बड़े अजीब ढंग से इनकार करते हैं। कहते हैं, 'ईश्वर मर गया' और इस बात का जैसे नारा ही लगाते हैं – जैसे ईश्वर की अर्थी के साथ चलते हुए उसके मरने का ऐलान कर रहे हों। दुनिया को क्या बताना चाहते हैं, ठीक समझ में नहीं आता – जो है ही नहीं, वह मर कैसे गया? ईश्वर को नहीं मानना कोई नई बात नहीं, कोई बड़ी बात भी नहीं है। अपने यहां तो ईश्वर को न मानना कभी कोई ख़ास बात नहीं रही है। कई धर्म ही ऐसे हैं जो ईश्वर को नहीं मानते : बौद्ध और जैन धर्म को लो। पर पश्चिम में ईश्वर को न मानना भारी कुफ़्र रहा है – घोर धार्मिक अपराध, जिसके लिये दण्ड भी दारुण दिया जाता था। तो 'ईश्वर मर गया' का मतलब होगा कि हम अपने सोचने में, श्रद्धा–विश्वास में स्वतन्त्र हुए। पर बात इतनी ही नहीं लगती। ईश्वर के साथ समूचे *होने* का ही विशेष *अर्थ* जुड़ा था – हमारे और जगत् के होने का। लगता है वह अर्थ भी ईश्वर के साथ ही मर गया है। यहां तक लगता है कि कइयों के लिये होने का ही अर्थ मर गया है। इस का मर्म जानना हो तो ईश्वर की अर्थी के साथ चलनेवालों का लिखा साहित्य पढ़ो – उपन्यास, कहानियां। समर्थ लेखक हैं, बड़े जागरूक आत्मचेतन हैं ये लोग, पर उनकी आत्मचेतना ही जैसे उनके भीतर घुन की तरह काम करती है – डंक की तरह काटती है। अंदर–ही–उगे काँटे की तरह अनिवार चुभती–सालती रहती है। आत्मचेतना को कैद बताते हैं ये लोग। आत्मचेतना स्वतन्त्र करती है कि मनुष्य अपना सोचना–करना आप कर सकता है। पर स्वातन्त्र्य का बोझ ही दबोचता है – कुछ चुनने को बाध्य करता है, पर अर्थ जैसा कहीं कुछ है नहीं - हम घोर विभीषिका में अपने को भटकता पाते हैं। ये लोग आत्मचेतना में कोई अपार क्षितिज नहीं देखते, अर्थहीन जकड़ाव देखते हैं। याज्ञवल्क्य से इनका अनुभव, इनका मानस, इनका बोध, बिल्कुल विपरीत है। इनकी भी चेतना भीतर ही मुड़ी रहती है, पर अपने को अकारथ आर्त पाती है, निरर्थक बीहड़ में पथ–हीन और गंतव्य–हीन पाती है। किसी ऊर्ध्व सम्भावना का प्रकाश कहीं नहीं दीखता इन्हें। ये अपने आप को ही जैसे बीभत्स पाते हैं। जगत् को, अपने जैसे दूसरे को भी उसी दृष्टि से देखते हैं, वैसा ही पाते हैं। दूसरे का होना ही उनके लिये नरक है, उन्हें काटने दौड़ता है, पिशाच की तरह। (सिद्धर्षि से) : सिद्धर्षि, तुमने भी आत्मचेतना में – विचार–चेतना में - न सत्य पाया, न मनुष्य के लिये कोई भलाई। पर तुमने उसमें सत्य को ढँकता हुआ पर्दा तो देखा, सत्य के

साक्षात् में उसे व्यवधान पाया – पर उसमें घृणा और बीभत्स-भाव की धरती नहीं देखी। यह बड़ा जागरूक कुत्सित भाव है, जानवर में ऐसा भाव जाग ही नहीं सकता – उसकी चेतना ही इस योग्य नहीं। यह तो आत्मचेतना में ही जाग सकता है। पर मैं समझता हूं, इसका कारण वही है जिसकी हम चर्चा कर आये हैं : आत्मचेतना में उचित-अनुचित का, श्रेयस् के बोध का सहज ही घर करना। उसी बोध में हम अपने को स्वतन्त्र भी पाते हैं तो हेय भी पाते हैं। आत्मचेतना की कुत्सा करनेवालों में यह मेल अर्थ-बोध से हट कर बीहड़ में आ गया है। पर, हां, यह मनुष्य में ही हो सकता है, और उसे अपनी दृष्टि में बिलकुल हेठा, हीन बना दे सकता है। हमारे लेखक, विचारकों के साथ हम यही होता देख सकते हैं। उनका भीतर-मन कहता है कि वे जैसे हैं वैसा उन्हें कदापि नहीं होना चाहिये – पर उनका 'होना चाहिये' का बोध उन पर ही लानत भेजता रहता है – क्योंकि ऐसा कोई अर्थ नहीं जो अपने आप में वरणीय हो। होने का कोई ऐसा सत्य स्वरूप नहीं जो वरेण्य हो, जिसे पाया जा सकता हो। तभी उनका होना उनके लिये बेपनाह कैद है। जीना एक *अभिशाप* है, जैसा अश्वत्थामा को दिया गया था। आत्मचेतना उस अभिशाप का बीज है। पर किसने दिया यह अभिशाप? ईश्वर तो है नहीं। बल्कि मुझे लगता है कि अभिशाप की बात अनचाहे ही ईश्वर को खींच लाती है।

पर 'ईश्वर' की धारणा अर्थ की भी धारणा है – ईश्वर परम-अर्थ है। आम तौर पर ईश्वर की हम अपने जैसे ही किसी जीव के रूप में – परम जीव के रूप में – कल्पना कर लेते हैं। बाइबल और पुराणों में हम ऐसा पाते ही हैं – पिछली बार इसकी चर्चा भी हुई थी – पर ऐसी कल्पना बड़ी स्थूल सी बात लगती है; फिर तो ईश्वर हम जैसा ही हो जायेगा, हमारी जैसी वासनाओं से, हमारे जैसे प्रयोजनों से भरा। और तब उसमें हमारी तरह ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध ये सब भी होंगे, जैसे बाइबल के ईश्वर में हैं, या पुराणों के देवताओं में। पर ईश्वर की धारणा के मर्म में जो अंतर्दृष्टि है वह यही है कि सृष्टि का कोई अर्थ है। 'ईश्वर मर गया है' इस नारे का तात्पर्य यही है कि सृष्टि का – जगत् का, हमारे होने का – कोई अर्थ नहीं।

(अब अपनी बात से आप ही तर्क करते हुए) : पर एक सवाल यहां उठे बिना नहीं रहता। क्या 'होना' और 'अर्थ का होना' एक ही बात है? ईश्वर हो न हो, या सृष्टि का *अर्थ* हो न हो, सृष्टि तो फिर भी है 'मर गया', 'मर गया' पुकार पुकार कर ईश्वर की अर्थी निकालनेवाले भी इस बात से इनकार नहीं करते कि सृष्टि है – जगत् है। उलटे यही कहना चाहते हैं कि ईश्वर के होने का सृष्टि के होने से कोई सम्बन्ध नहीं – चाहे ईश्वर के साथ अर्थ का परम आधार भी मर गया हो। विज्ञान तो अर्थ हो हटा कर ही होने के स्वरूप की खोज करता है।

(बात को दूसरी दिशा देते हुए) : ईश्वर को न मानने वालों में ऐसे भी लोग हैं जो मनुष्य को ही सर्वोपरि रख देना चाहते हैं – वह आत्मचेतन है तो वही अपना विधाता है, अपने ही अर्थ का आधार। वह अपना अलग संसार बुनता है। ऐसे लोगों का नारा है, 'सबसे

बड़ा सत्य मनुष्य है, उस से ऊपर कुछ नहीं'। ये लोग ईश्वर का स्थान मनुष्य और उसकी आत्मचेतन युक्ति–बुद्धि में देखते हैं। कहते हैं 'मनुष्य आप अपना विधाता है'। यह दृष्टि भी पश्चिम में ही पनपी है – पर वहां से आया इसका स्वर हमारे भीतर भी गहरा गूँजता है। इनके लिये भी ईश्वर अगर मर गया है तो अच्छा ही हुआ है – उसकी अंध–श्रद्धा में स्वीकृत, युक्ति–विरुद्ध, विधानों का बोझ हमारे सर से उतर गया। अब हम अपनी एषणाओं, प्रयोजनें और स्वार्थों को वह महिमा दे सकते हैं जो उन्हें मिलनी चाहिये। ईश्वर के नाम पर हम इन्हें पाप समझते थे, अपनी जिजीविषा को नकारते थे। पर हम हमारी एषणा ही हैं। अब ईश्वर की कैद से मुक्त हो कर हम खुल कर एषणा की राह चल सकते हैं; *अपने* प्रयोजनों की पूर्ति के लिये स्वतन्त्र हैं, स्वायत्त हैं। ईश्वर के साथ एक बड़ी दुविधा है – उसे परम–अर्थ मान लो तो वह हम क्या करें, कैसे जियें, सब कुछ तय करता है। लेकिन ईश्वर के कहे जाने वाले प्रयोजन ईश्वर के ही हैं, कौन जानता है, या जान सकता है? ईश्वर तो हमें बताता नहीं, जो बताता है वह तो हमारे जैसा ही मनुष्य होता है। उसे ईश्वर ने ही कुछ बताया, इसका क्या प्रमाण? हमारी युक्ति नहीं अंध श्रद्धा ही यहां प्रमाण होती है। श्रद्धा की लकीर पर हम बिना प्रश्न किये चलते चले जा सकते हैं, पर ऐसे युक्तिहीन बहाव में बहे चले जाने का क्या तुक है? क्या अर्थ है? युक्ति की बात यही है कि हम अपने आपे में आयें, अपने को, अपने प्रयोजनों को ही सर्वोपरि मानें।

(आकाश की ओर देखते हुए) : आकाश, तुमने अर्थ के उन क्षेत्रों की बात की जो मनुष्य के लिये आत्मचेतना के साथ खुलते हैं। पर ये एषणा के क्षेत्र नहीं हैं। एषणा से ऊपर उठ कर ही बनते हैं। विज्ञान भी ऐसा ही लोक है। पर धर्म, जहां ईश्वर स्थान पाता है, वह भी तो ऐसा ही क्षेत्र है! हम मनुष्य के बड़प्पन की बात करते हैं तो इन क्षेत्रों की भी बात करते हैं – इन्हें मनुष्य की महिमा के साथ जोड़ते हैं। पर मेरे मन में सवाल जागता है – अर्थ के ये क्षेत्र क्या मनुष्य ने बनाये हैं? वह इन्हें साधता है, इन्हें समृद्ध भी करता है, पर क्या उसने अपनी इच्छा से इन्हें खड़ा कर लिया है? इस बात का कोई अर्थ ही नहीं बनता। ये क्षेत्र चेतना के भीतर से ही बन खड़े होते हैं – वैसे ही स्वायत्त, स्वतन्त्र होते हैं जैसा दृश्य जगत् होता है। इनका अपना सत्य–मिथ्या निर्णय होता है – हम इनमें अपनी इच्छा या एषणा से निर्णय नहीं कर सकते। वैसे ही जैसे जगत् में क्या है, क्या नहीं है, यह निर्णय हम अपनी इच्छा से नहीं कर सकते। यह निर्णय केवल युक्ति–बुद्धि से भी नहीं हो पाता, प्रतिभा की मांग करता है। उचित–अनुचित के निर्णय को क्या कहोगे? इच्छा–निर्भर? पर संकल्प का, नैतिकता का अपना आयाम है जहां इच्छा की बात उतनी ही विसंगत है जितनी गणित में। पर यह केवल बुद्धि–तर्क की भी बात नहीं, तभी उचित क्या, श्रेयस् क्या, कर्त्तव्य क्या, इसके उत्तर किसी गुहा में खोये रहते हैं जहां हमसे ऊर्ध्व–रहती चेतना का ही प्रवेश हो तो हो। मुझे लगता है कि अर्थ के जिन क्षेत्रों की आकाश ने बात की, उनमें 'अर्थ' और 'होना' – 'होने' का अपना स्वतन्त्र, स्वायत्त भाव, दोनों मिल कर एक हो जाते हैं।

अगर यह मान भी लो कि अर्थ के क्षेत्रों में निर्णय करने वाले चाहे हम ही होते हैं, पर कौन से हम? एषणा के हम तो नहीं हो सकते – जिसे ईश्वर के चंगुल से निकल कर स्वार्थ साधने की छूट मिल गई है? या एषणा के न सही, युक्ति-बुद्धि वाले हम? पर ये क्षेत्र प्रतिभा की मांग करते हैं जो युक्ति-बुद्धि से परे होती है। हमारी बुद्धि तो हमें व्यवहार में ही भटकाती नहीं है क्या? हम बुद्धि के भरोसे अपने को झूठा दिलासा नहीं देते रहते क्या कि अब हम ईश्वर के श्रद्धा-तन्त्र से हट गये हैं तो हमारा बुद्धि-तन्त्र हमारे अनुकूल हमारा संसार साधेगा? पर हमारे अनुकूल क्या, यही हम कहां जान पाते हैं? हमारे अंतरतम में प्रश्न बना रहता है : क्या हम जैसे जी रहे हैं वहीं हमारा सच्चा जीना है – हम जो सचमुच हैं, क्या वह उसके अनुकूल है? इसका उत्तर पाने के लिये ही हम ईश्वर की पुकार करते हैं। या याज्ञवल्क्य की तरह अध्यात्म-साधना करते हैं। आज विज्ञान की जीत है, सुविधा का दिन-दिन बढ़ता अंबार है, हमें अपार गर्व है कि हमने – मनुष्य ने – अपने बूते यह सब साधा है! पर मुझे तो दिखता यही है कि ईश्वर मर गया हो, पर हम भी – मनुष्य का हमारा, अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से चलता संसार भी, एक मरने-मारने के कगार पर ही खड़ा है! सुविधा बढ़ गई हो, हम तो वहीं है, उन्हीं एषणाओं से बँधे हुए जिन्हें याज्ञवल्क्य ने गिनाया है। हमारी श्रद्धा की बेड़ियां खुल गई हों, पर हम बुद्धि से भी अर्थ का प्रकाश कहां पाते हैं? पाते हों, इसका कोई भरोसा तो नहीं होता। बुद्धि तर्क कर सकती है और तर्क को काट सकती है – पर इस सिलसिले का कोई अंत नहीं पाती। कहीं टिकती नहीं है। बुद्धि सहायक हो सकती है, जैसे विज्ञान की यात्रा में। पर वह यात्रा सार्थक है, उचित है, हमारे स्वरूप के अनुकूल है, यह तो बुद्धि के परे जागती प्रज्ञा ही बता सकती है। (कुछ आवेग में आ कर) : मैंने अभी कहा कि हम विनाश के दरवाज़े खटखटा रहे हैं। पर बुद्धि को इससे क्या फ़र्क पड़ता है! कुछ और है हमारे भीतर जो दहल जाता है।

देर हो गई है, अब ज़्यादा कुछ नहीं कहूंगा। पर इतना और कहना चाहता हूं कि मुझे लगता है कि होना और होने का अर्थ, दोनों एक ही खोज की दो दिशायें हैं। या कहो कि एक ही सत्य के दो पक्ष। याज्ञवल्क्य के ब्रह्म में दोनों एक हो जाते हैं – एक ही लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं। ब्रह्म 'होने' का भी आधार है, अर्थ का भी। वह सिद्ध भी है और साध्य भी।

(सभा विसर्जित होती है)

# भारतीय दर्शनों में विविध दर्शन-संप्रदाय

नारायणशास्त्री द्रविड़

भारतीय दर्शनों में सामान्यतः 'तत्त्वज्ञान' शब्द दार्शनिक ज्ञान के लिए प्रयुक्त हुआ दिखाई देता है। सभी सूत्रात्मक या अन्य प्रकार की दार्शनिक कृतियों में दर्शन के विवेच्य विषय का निर्देश 'तत्त्वज्ञान' संज्ञा से ही प्राप्त किया गया मिलता है। इस कारण भारतीय दर्शनों के संबंध में यह भ्रांति होना संभव है कि ये दर्शन कितने ही परस्पर भिन्न क्यों न हों इनके विषय अभिन्न ही हैं, भले ही इनकी विभिन्न दर्शनकारों द्वारा अपनायी गयी विवेचना-पद्धतियां एक-दूसरी से बिलकुल भिन्न हों। इन दर्शनों के विवेच्य विषयों का सरसरी तौर पर निरीक्षण करने पर इस संभाव्य भ्रांति का परिपोष होता भी है। यह बात सर्वविदित है कि प्रत्येक भारतीय दर्शन एक परिपूर्ण दर्शन होता है, जिसमें वस्तुतत्त्व-मीमांसा, ज्ञानमीमांसा, प्रमाणमीमांसा, आत्ममीमांसा तथा परमार्थमीमांसा इन सभी परस्परानुविद्ध विषयों का समावेश होता है। अर्वाचीन पश्चिमी दर्शनों के समान केवल वस्तुतत्त्व-मीमांसा, ज्ञानमीमांसा, प्रमाणमीमांसा आदि तक ही इन दर्शनों का विचार सीमित नहीं रहता। इन सभी विषयों की अपने-अपने स्वतंत्र तात्त्विक दृष्टिकोण से ये दर्शन अनिवार्यतया चर्चा करते हैं। जैसे, सामान्य या जातिरूप पदार्थ का विचार वैशेषिक , मीमांसा, सांख्य, वेदान्त आदि सभी दर्शनों ने किया है लेकिन वैशेषिक जाति को एक स्वतंत्र नित्य पदार्थ मानते हैं जबकि मीमांसादि उसे स्वाश्रय वस्तु से भिन्नाभिन्न या उसकी उपाधि जैसा समझते हैं। नास्तिक बौद्ध तो सामान्य को पदार्थ ही नहीं स्वीकारते। इस तरह के विवेच्य विषयसाम्य को तथा विचारपद्धति-साम्य (यह कुछ लोगों का मंतव्य है किन्तु यह वास्तविकता नहीं है, प्रत्येक दर्शन की विचारपद्धति उसकी अपनी ही होती है। लेकिन इस विषय की यहाँ चर्चा नहीं की जायेगी।) को मद्देनजर रखते हुए किसी भी असूक्ष्मदर्शी दर्शन के विद्यार्थियों को उपर्युक्त भ्रांति हो तो आश्चर्य की बात नहीं। इस संबंध में असलियत यह है कि प्रत्येक दर्शन दर्शनांतर्गत सभी विषयों का जिस दृष्टिकोण या तात्त्विक भूमिका से विचार करता है वह दृष्टिकोण या भूमिका उस दर्शन के द्वारा स्वीकृत एक दर्शन-संप्रत्यय होता है जो अन्य दर्शन-पुरस्कृत दर्शन-संप्रत्ययों से नितांत भिन्न होता है। यह भिन्नता दर्शनकारों ने स्पष्टतया अपने ग्रंथों में प्रस्तुत नहीं की है। एतदर्थ ही निम्न विवेचन किया जा रहा है।

इस संदर्भ में अर्वाचीन पश्चिमी दर्शनों के स्वरूप पर दृष्टिपात करना अप्रासंगिक नहीं होगा। अढ़ाई हज़ार सालों से चला आ रहा पारंपरिक पश्चिमी दर्शन अब पूर्णतया

कालबाह्य हो गया है क्योंकि इस दर्शन के अधिकांश सिद्धान्त अवैज्ञानिक, पिष्टपेषणात्मक तथा अनुभवानाधारित हैं, ऐसा वैज्ञानिक प्रयोग-निरीक्षणात्मक विचार-पद्धति और वैज्ञानिक सिद्धान्त के समर्थक इन अभिनव नवदार्शनिकों ने अपने संवेद प्रमापणीयता-सिद्धान्त के द्वारा विशद कर दिखाया। दार्शनिक चिंतन भी वैज्ञानिक पद्धति से-स्वैर मानसिक चिंतन से नहीं-किया जाना चाहिए, ऐसा इन अर्वाचीन विज्ञान पृष्ठपोषक दार्शनिकों का आग्रह था। इन दार्शनिकों के अग्रणी महान् अर्वाचीन चिंतक बर्ट्राँड रसेल थे जिन्होंने तत्त्वमीमांसा को दर्शन के क्षेत्र से बिल्कुल अपवारित कर दिया और एक के बाद एक भिन्न भिन्न दर्शन विषयक धारणायें प्रस्तुत कीं। बहुत कुछ रसेल पुरस्कृत संवेदाधारित दर्शन-सम्प्रत्यय को ही अपनाकर रुडाल्फ कार्नाप, ए. जे. एयर, मॉरिस श्लिक, फ्रेडरिक वेज़मान आदि नवदार्शनिकों ने दर्शनांतर्गत ज्ञानमीमांसा, प्रतिज्ञप्तिमीमांसा जैसे विषयों की ही चर्चा अपने ग्रन्थों में की। वस्तुतत्त्वमीमांसा के ही समान आत्ममीमाँसा और परमार्थमीमाँसा-जो प्राचनी भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शनों के अविभाज्य अंग समझे जाते रहे हैं, अर्वाचीन दर्शनों से पूर्णतया अपवारित हो गये हैं।*

भारतीय दर्शन प्राचीन काल से अब तक अपनी स्वतंत्र स्थिति बनाये हुए हैं। उस पर पिष्टपेषण या अनानुभविकता का आरोप नहीं किया गया या किया जा सकता है। प्रत्येक दर्शन का एक तात्त्विक दृष्टिकोण या संप्रत्यय होता है जिसका दर्शन शब्द से निर्देश अभिप्रेत होता है। सामान्य अनुभवों को सूक्ष्मता से समझने का गंभीर प्रयास इन दर्शनों में किया गया है अत: इन्हें अनुभवानाधारित नहीं कहा जा सकता। कुछ भारतीय दार्शनिक इस तथ्य के लिए 'वस्तुतत्त्वविषयक प्रतिबद्धता' इस संज्ञा का प्रयोग करते हैं। तात्त्विक दृष्टिकोण के लिए अधिक समर्पक संज्ञा 'वैश्विक दृष्टिकोण' यह होगी, क्योंकि दार्शनिक दृष्टिकोण द्वारा ऊपर स्पष्ट किये मुताबिक पदार्थ, उनका ज्ञान, इस ज्ञान के साधन तथा ज्ञाता और उसका परम लक्ष्य इन सभी परस्परसंबद्ध विषयों की प्रत्येक दर्शन चर्चा करता है। यह सर्वंकष दृष्टिकोण केवल दार्शनिक जानकारी के लिए अपेक्षित नहीं माना गया है। इसे जीवन में कार्यान्वित करना सर्वतोपरि आवश्यक समझा गया है। इसी कारण ज्ञान के लिए-जो दर्शन के अनुसंधान से प्राप्त किया जाता है-'ज्ञानयोग' इस संज्ञा का प्रयोग किया जाता है। ज्ञान शब्द से जुड़ा योग शब्द ज्ञान की साधना को बतलाता है। यह ज्ञान का आत्मसात्करण है। इसी कारण इसे 'दर्शन' संज्ञा दी गयी है। आज के आत्यंतिक भोगवादी युग में भी दार्शनिक ज्ञान को आत्मसात् किये हुए जैन साधु प्राय: दिखाई देते हैं। अहिंसा को केवल एक दार्शनिक सिद्धान्त न मानकर उसे समग्र प्राणिजीवन का आधार समझने वाले ये साधु मुँह पर पट्टी लगाये और हाथ में

---

*. संवेद-प्रमापणीयता-सिद्धान्त आधुनिक यूरोप के केवल एक दर्शन-संप्रदाय का था, इससे नितान्त भिन्न, हुस्सर्ल, हाईडेगर, बर्गसाँ और सार्त्र प्रवर्तित सिद्धान्त थे। (सं.)

चँवर पकड़े हुए अहिंसामय दैनंदिन जीवन व्यतीत करते हैं। ऐसी ही बात बौद्ध श्रमणों, वेदान्ती संन्यासियों आदि के संबंध में भी प्राय: दृग्गोचर होती है। दर्शन का अध्ययन, और इससे प्राप्त होने वाला दार्शनिक ज्ञान इनका ज्ञानयोग या ज्ञानसाधना के साथ सातत्य होने से ही दर्शनजन्य तत्त्वज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है, ऐसा सभी दर्शनकार मानते हैं।

अब हम प्रत्येक दर्शन के दर्शन विषयक संप्रत्यय का कुछ विस्तार के साथ विचार करेंगे। सर्वप्रथम हम न्यायदर्शन को लें। वास्तव में यह एक दर्शन नहीं है। तीन भिन्न-भिन्न दर्शनों के आकारिक समन्वय से निर्मित यह 'एक प्रतीत होने वाला' दर्शन है। गौतमप्रणीत वादविधि-विचारप्रधान न्यायदर्शन, कणादप्रणीत प्रमेयविचारप्रधान वैशेषिक दर्शन तथा गंगेशोपाध्याय संरचित या संकलित प्रमाणविचारप्रधान नव्यन्यायदर्शन इन तीनों का यथोचित समन्वय इस दर्शन में किया गया है। इस समन्वय का सूत्रपात सुप्रसिद्ध प्राचीन नैयायिक उदयनाचार्य ने अपने **न्यायकुसुमाञ्जलि** इस ग्रन्थ के द्वारा तथा **न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि** इस व्याख्यात्मक ग्रंथ द्वारा संपन्न किया। गौतम मुनि ने अपने **न्यायसूत्र** के प्रथम सूत्र में विवेचनीय पदार्थों के रूप में प्रमाण और प्रमेय का उल्लेख अवश्य किया है लेकिन इन विषयों की यथोचित विस्तृत चर्चा अग्रिम सूत्रों में नहीं है। यही नहीं, प्रमेयों का गौतम-प्रणीत वर्गीकरण अपूर्ण और अतर्कसंगत भी है। 'आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन:प्रेत्यभाव, फल, दु:ख, अपवर्गा तु प्रमेयम्' इस प्रारंभिक प्रमेयनिर्देशक सूत्र में अर्थ के अनंतर जो प्रमेय गिनाये गये हैं उनका इस वर्गीकरण में प्रमेय के रूप में कोई स्थान नहीं हो सकता। यह बात अलग है कि व्याख्याकारों ने कोई न कोई तर्क देकर इस वर्गीकरण का समर्थन किया है। प्रमाण और प्रमेय के अतिरिक्त जो चौदह विषय सूत्र में उल्लिखित हैं वे विभिन्न प्रकार के वाद-विवादों के लिए उपयुक्त हैं। अत: उनकी चर्चा वादविधि-प्रधान शुद्धन्यायदर्शन में आवश्यक ही है। इस कारण नागार्जुन जैसे न्यायविरोधी बौद्ध दार्शनिक द्वारा न्यायसम्मत वादपद्धति के खंडन के लिए प्रवृत्त होना एक स्वाभाविक बात माननी चाहिये। इस वादविधि का तत्त्वज्ञान अन्यूनानतिरिक्त वादादि लक्षणों के द्वारा परिष्कृत रूप से विशद करने के बदले उदाहरणों के द्वारा उसे विशद करने का प्रयास लक्षण-परिष्कारपद्धति का प्राचीनकाल में विकसित न हुआ होना सूचित करता है।

उक्त समन्वित दर्शन का दूसरा घटक दर्शन वैशेषिक यह प्रमेयविचारप्रधान दर्शन है, यह बात इस दर्शन के प्रथम सूत्र के भाष्य की उक्ति से स्पष्ट हो जाती है। 'द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभावानां साधर्म्य वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानात् नि:श्रेयसम्' इस **प्रशस्तपाद भाष्य** की उक्ति में वैशेषिकसम्मत सात प्रमेय और उनके साधर्म्य-वैधर्म्याधारित विभिन्न लक्षण इनके ज्ञान को तत्त्वज्ञान संज्ञा दी गयी है। कोई भी लक्षण लक्ष्य के स्वरूप को लक्ष्येतर से लक्ष्य के भेद को अन्यूनानतिरिक्त विशेषणों के द्वारा उपवर्णित करता है। द्रव्यादि सात पदार्थों के विभिन्न स्वगत तथा इतरभेदक स्वरूपों

का ज्ञान ही वैशेषिकमतानुसार पदार्थतत्त्वज्ञान है। न्याय के वादविधितत्त्वज्ञान से इस प्रमेयतत्त्वज्ञान का भेद स्पष्ट है, भले ही दोनों लक्षण से ही संबंध रखते हों।

वादविधि और प्रमेय इनके लक्षण प्रस्थापित हो जाने पर प्रमाणों के लक्षण का विचार क्रम–प्राप्त है। जैसा प्रारंभ में ही कहा जा चुका है, प्रत्येक विषय की चर्चा सभी दर्शनों में की हुई होने पर भी किसी न किसी विषय विशेष की चर्चा को ही प्रत्येक दर्शन प्राधान्य देता है। न्याय और वैशेषिक दर्शनों का पर्याप्त विकास हो जाने के बाद प्रमाण विचारप्रधान एक स्वतंत्र दर्शन की आवश्यकता थी जो नव्यन्याय के आकारिक या 'लक्षणैकचक्षुक' कहे जाने वाले दर्शन ने पूर्ण की है। यह दर्शन शतप्रतिशत लक्षण–विचारप्रधान है। प्रमाणांतर्गत व्याप्ति, पक्षता, परामर्श, उपाधि, अवयव, हेत्वाभास, अनुमिति, प्रत्यक्ष, उपमिति, शाब्दबोध इत्यादि सांप्रत्ययिक पदार्थों के अव्याप्ति–अतिव्याप्ति, असंभव इन संभाव्य दोषों से रहित लक्षणों का अत्यंत परिष्कृत तथा अन्यूनानतिरिक्त रूप से प्रतिपादन नव्यन्याय दर्शन का प्रमुख लक्ष्य है। द्रव्य, गुणादि वैशेषिक प्रतिपादित सामान्य आनुभविक विचार नव्यन्याय की चर्चा में एक प्रकार से पूर्वाभ्युपगत अतएव स्वीकृत हैं। इसीलिये **न्यायसिद्धान्तमुक्तावली** में ग्रंथकार विश्वनाथ पंचानन कहते हैं कि 'एतेच पदार्थाः वैशेषिकनये प्रसिद्धाः नैयायिकानां अपि अविरुद्धाः।' अर्थात् द्रव्य, गुणादि की सत्ता को नव्यनैयायिक अस्वीकार नहीं करते। यही नहीं, सांप्रत्ययिक पदार्थों की अतिरिक्त स्वतंत्र सत्ता को भी कुछ नव्य नैयायिक स्वीकार करते हैं, जैसाकि तार्किक शिरोमणि **दीधिति** व्याख्याकार रघुनाथ अपनी सिद्धान्त लक्षण की व्याख्या के अंत में निम्न वाक्य में कहते हैं–

''विषयता तत्त्वादिवत् प्रतियोगित्वाधिकरणत्व संसर्गत्वादयोपि अतिरिक्त एव पदार्थाः इति एकदेशिनः।'' कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त सांप्रत्ययिक पदार्थों की सत्ता के प्रति नव्यनैयायिकों का इतना लगाव है कि वे इन पदार्थों की तुलना में वास्तविक आनुभविक पदार्थों की सत्ता को विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं मानते। संभवतः इसी कारण नव्यनैयायिकों को कुछ दार्शनिक 'अनियतपदार्थवादी' कहते हैं। आकारिक तर्कशास्त्रियों की यह संज्ञा पूर्णतया लागू हो सकती है।

मीमाँसा दर्शन के विविध पहलू हैं जिनकी ओर भारतीय दार्शनिकों का भी विशेष ध्यान नहीं गया है। कुछ दशक पहले पश्चिमी दार्शनिकों में नैतिक आदेशात्मक वाक्यों की (जिन्हें अंग्रेज़ी में मेटाएथीकल स्टेटमेंट्स कहा जाता है) आनुभविक सत्यासत्यता के संबंध में घोर वाद–विवाद था। एयर, स्टिवेन्सन जैसे अनुभवैक प्रामाण्यवादी दार्शनिक इन वाक्यों को आनुभविक सिद्ध करने के लिए तरह–तरह के तर्क प्रस्तुत करते थे जबकि अन्तःसाक्षात्कारवादी मूर जैसे विचारक इन तर्कों का प्रतिवाद करते थे। इस संबंध में अनेक अर्वाचीन अनुभव–प्रामाण्यवादी भारतीय दार्शनिकों की यह सामान्य धारणा थी कि भारतीय दर्शनों में शुभाशुभ कर्म संबंधी धर्मशास्त्रीय विवरण है लेकिन

कर्म की शुभाशुभ प्रभुता क्या है, इस मुख्य नैतिक प्रश्न की उसमें कोई चर्चा नहीं है। यह धारणा नितांत भ्रामक है। मीमाँसा दर्शन तथा न्यायदर्शन इनमें विधिवाद, अपूर्ववाद, आख्यातवाद इन विषयों की जो विस्तृत चर्चा है उस पर से नैतिक आदेशों के अर्थों के संबंध में इन दर्शनों के अनुयायी भाट्ट मीमांसक, प्राभाकर मीमांसक, प्राचीन नैयायिक तथा नव्य नैयायिक इनके बीच जो अनेक मतभेद थे उनका पता चलता है। आदेशात्मक विधिनिषेध वाक्यों में आदेशबोधक जो प्रत्यय क्रियापद में संनिविष्ट होते हैं उनका अर्थ इष्टसाधनत्व, कृतिसाध्यत्व, बलवदनिष्टाननुबंधि कृतिसाध्यत्व, कार्यत्व इत्यादि में क्या माना जा सकता है, इस विषय की विस्तृत चर्चा उक्त दार्शनिकों ने की है।

मीमांसादर्शन प्रमुखतया वेदान्तर्गत नैतिक आदेशात्मक धर्माधर्मबोधक विधिनिषेध वाक्यों के क्या अर्थ लेने चाहियें, इस प्रश्न का साङ्गोपाङ्ग विचार करता है। इस कारण मीमांसा दर्शन के प्रणेता जैमिनी ने 'चोदना लक्षणोऽर्थः धर्मः' ऐसी धर्म की (और उसके विरुद्ध अधर्म की) परिभाषा प्रारंभ में ही प्रस्तुत कर दी है। कोई भी आदेश कार्यप्रवर्तन के लिए ही किया जाता है। नैतिक आदेश अंततोगत्वा वेदवाक्यों से ही उद्भूत होने के कारण वे निरपेक्ष रूप से प्रवर्तक (या निषेधक) माने जाते हैं। इस बात का स्पष्टीकरण आचार्य कुमारिल ने अपने **श्लोकवार्तिक** नामक ग्रन्थ के प्रारंभिक श्लोक में इस प्रकार किया है–

**धर्मे प्रमीयमाणे तु वेदेन करणात्मना।**
**इतिकर्त्तव्यता भागं मीमांसा पूरयिष्यति।।**

धर्म का वेदवाक्यों द्वारा प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करने के जो मुख्य साधन हैं उनमें मीमांसागत चिंतन विशेष महत्त्व रखता है क्योंकि इन वाक्यों की प्रवर्तकता या निषेधकता का सही निर्धारण मीमांसा ही करती है।

विधिनिषेधातिरिक्त वेदवाक्यों के सही अर्थों का भी विचार आवश्यक है जो मीमांसा के लगभग हज़ार अधिकरणों में किया गया है। ये वाक्य आपाततः परस्पर विरुद्धार्थक, पुनरुक्त्यात्मक या निरर्थक या परस्पर असंगत भी प्रतीत होते हैं। जैसे 'मा हिंस्यात् सर्व भूतानि' यह हिंसा सामान्य का निषेधक वाक्य है, इसका विरोधी वाक्य 'अग्नीषोमीयं ... पशुं आलभेत' यह वाक्य है। इन वाक्यों में संगति कैसे प्रस्थापित की जाय? ऐसे ही 'अग्निहोत्रं जुहोति, यवागूं पचति' ये दो वाक्य हैं। इनमें यवागू (एक प्रकार का आटे से बनाया पदार्थ) का अग्निहोत्र के लिए उपयोग किया जाना है लेकिन उसका निर्देश अग्निहोत्र के निर्देश के बाद किया गया है जिससे संदेह उत्पन्न होता है कि यवागू का अग्निहोत्र के अतिरिक्त कोई न कोई उपयोग है। ये उदाहरण बहुत सामान्य हैं। अनेक वेदवाक्यों का अर्थ–निर्धारण बहुत कठिन होता है जिसका विभिन्न अधिकरणों में विस्तृत विचार किया गया है। इस कारण मीमांसा को 'वाक्यशास्त्र' के रूप में भी देखा जाता है। (व्याकरणशास्त्र को 'पदशास्त्र' माना जाता है।)

वाक्यार्थविचार से जुड़े हुए दो महत्त्वपूर्ण विचार हैं जिनके संबंध में मीमांसा ने अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। एक विचार यह है कि वैदिक वाङ्मय यह अपौरुषेय अर्थात् स्वयंभू या किसी के द्वारा भी रचित न होकर अनादिकाल से अक्षुण्ण रूप से चला आ रहा है। दूसरा विचार यह है किसी मनुष्य या ईश्वर से भी (ईश्वर की सत्ता मीमांसा को अमान्य है) संरचित न होने के कारण वेद स्वतः प्रमाण है। मनुष्य में भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव जैसे दोष कम-अधिक मात्रा में कभी न कभी हुआ ही करते हैं। यदि वे मनुष्य-रचित और ईश्वर-रचित भी नहीं हैं तो वे मनुष्यदोषजनित भ्रांति, मिथ्यात्व, विप्रलंभ इत्यादि दोषों से रहित ही होंगे। इस तरह वेदों के नैसर्गिक प्रामाण्य की चर्चा करने के संदर्भ में मीमांसा ज्ञानमात्र के प्रामाण्य या यथार्थता के सिद्धान्त का समर्थन करती है। वेदवाक्यजनित या अन्य प्रकार के ज्ञान का विरोधी कोई ज्ञान न हो तो उसे स्वरूपतः प्रमाण मानना होगा, ऐसा मीमांसा का और तदनुसारी वेदान्त का भी मत है।

प्रमाण और ज्ञान के विचार से संलग्न कर्मसंबंधी विचार है जो कर्म की विशेषतया धार्मिक, अधार्मिक कर्म की भाविफलदायकताशक्ति से-जिसे 'अपूर्व' यह संज्ञा दी गयी है-संबद्ध है। कर्म की शक्ति स्वीकार करने पर वस्तुमात्र की कारणता या प्रतिबंधकता शक्ति को भी स्वीकार करना पड़ता है। कर्म पर से कर्मकर्त्ता आत्मा, उसका चेतन-स्वभाव तथा कर्म से जुड़े हुए अन्यान्य द्रव्य, गुणादि पदार्थ, इनके स्वरूप तथा परस्पर संबंध इत्यादि अन्यान्य विषय विचार की कक्षा में अनिवार्यतया खिंचे चले आते हैं। इन विषयों का साङ्गोपाङ्ग विचार किसी स्वतंत्र दार्शनिक भूमिका को अपनाये बिना जनसाधारण की सामान्यानुभवाधिष्ठित भेदाभेदवादी भूमिका से ही मीमांसा ने किया है। यह विचार मीमांसा का तीसरा पहलू है। अन्य दर्शनों के समान वस्तुतत्त्वमीमांसा मीमांसा का भी एक महत्त्वपूर्ण विचार्य विषय रहा है। अतः मीमांसादर्शन का सम्मिश्र दर्शन-संप्रत्यय धर्माधर्मतत्त्वज्ञान, वाक्यार्थतत्त्वज्ञान तथा पदार्थतत्त्वज्ञान इन तीनों को अपने में समेट लेता है।

अब सांख्य, योग इस तथाकथित समन्वित दर्शन युगल पर दृष्टिपात करें। इस युगल के अंतर्भूत सांख्य एक अद्भुत दर्शन है। इस दर्शन की अनेक असामान्य विशेषतायें हैं। पहली विशेषता यह है कि जब अन्य सभी दर्शन द्रव्य रूप ठोस कारण से द्रव्याधारित माने जाने वाले गुणों की उत्पत्ति मानते हैं-जो सामान्यानुभव समर्थित है-सांख्य इस मान्यता के विरुद्ध सत्व, रज, तमोरूप गुणों से द्रव्य घटित विश्व की उत्पत्ति तथा विकास संभव मानता है। गुण स्वभावतः ही स्वतः परिवर्तनशील होते हैं। अतः उनकी कारणता से सतत परिवर्तनशील या परिणामी विश्व की उत्पत्ति होने की बात सरलता से स्वीकार की जा सकती है।

दूसरी उल्लेखनीय सांख्यगत विशेषता यह है कि उसने अंतर्बाह्य-मानसिक तथा भौतिक-विश्व को एक ही सतत परिणामी गुणत्रय विकास-प्रक्रिया का घटक मानकर

उसके विषय-विषयिभेद तथा स्वरूप-भेद को–जो अन्य दर्शनसम्मत तथा सामान्यानुभवसमर्थित भी है–पूर्णतया अस्वीकृत कर दिया है। सांख्य के अनुसार बुद्धि या महत्तत्व से ही क्रमश: पंचमहाभूतात्मक स्थूल विश्व की उत्पत्ति होती है। यह एक प्रकार से जड़-चेतन भेद को स्थूल-सूक्ष्मरूप अवस्था भेद में रूपांतरित कर देना है।

तीसरी, उक्त विशेषताओं से अधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता जो सांख्य में विद्यमान है वह महत्तत्व के रूप में बुद्धि की अखिल जड़-चेतनामय विश्व में व्याप्ति मानना है। सांख्य के अनुसार समग्र विश्व बुद्धि की ही विकृति है अत: वैश्विक प्रक्रियायें बुद्धिसंगत प्रतीत होना–जिससे उनका वैज्ञानिक अनुसंधान बराबर किया जाता रहा है–एक नैसर्गिक बात माननी होगी।

चौथी विशेषता जो अतीत महत्वपूर्ण है वह यह है कि सारी वैश्विक विकास ह्रास प्रक्रियायें पूर्णतया स्वनिर्धारित है और जड़ भी है। जिस बुद्धि तत्त्व का समावेश विश्व में है वह जड़ ही है। किन्तु ऐसा होते हुए भी वैश्विक प्रक्रियायें सोद्देश्य होती हैं। पुरुष या आत्मा के भोगापवर्ग का साधन इनका परम लक्ष्य होता है। इस तरह जाड्य और सोद्देश्यता इनको एक दूसरे के साथ जोड़ने का सांख्य ने विचित्र प्रयास किया है।

पांचवीं, विचारकों को भी संभ्रमित कर देने वाली विशेषता यह विचार है कि पुरुष, अपनी 'नास्मि न मे नाहं इत्यपरिशेषम् अविपर्ययाद्विशुद्धं' ऐसे विशेषणों द्वारा **सांख्यकारिका** में उपवर्णित ज्ञान या चेतना और बुद्धिगत सत्वगुणाधारित सीमित चेतना इनकी आंशिक सरूपता के कारण संभ्रमित होकर बुद्धि में आत्मप्रतिबिंब देखता है और बुद्धिगत विकृतियों को अपने में आरोपित करते हुए सांसारिक बातों में उलझता है। लेकिन वैश्विक विकास-प्रक्रिया के विपरिणमन या मोक्षाभिमुख हो जाने पर वह बुद्धि से अलग पड़ जाता है और अपनी उपरिवर्णित स्वाभाविक चेतनवृत्ति में विलीन हो जाता है। पुरुष का मोक्ष प्रकृति की, जो विश्व का मूल कारण है, विकास-ह्रास प्रक्रियाओं का ही एक प्रकार से रूपांतर है और वह अपने आप घटित होता है। एतदर्थ न प्रकृति को न पुरुष को कोई प्रयास करना पड़ता है। सांख्यदर्शन की उपर्युक्त क्रांतिकारी विशेषताओं का पर्यवेक्षण करने पर उसके द्वारा पुरस्कृत तथा परिष्कृत दर्शन-संप्रत्यय का स्वरूप सरलता से स्पष्ट हो जाता है। जिस दार्शनिक चिंतन से उक्त विशेषताओं का स्पष्टीकरण होता है वह चिंतन चिंतनशील पुरुष के द्वारा किया जाने वाला या सांख्य के कथनानुसार–पुरुष में स्वत: घटित होने वाला शुद्ध चैतन्याभिमुख स्वीय उद्यम है जिसके लिए 'सत्वपुरुषान्यथाख्याति' यह अर्थपूर्ण पारिभाषिक संज्ञा सांख्यदर्शन में प्रयुक्त है। गंभीर दार्शनिक चिंतन पुरुष के नैसर्गिक विशुद्ध चैतन्य का ही स्थूल रूप है। इस चिंतन के अधिकाधिक गंभीर और दृढ़ होने से ही पुरुष-चैतन्य वैश्विक सत्वगुणाधिष्ठित चैतन्य से अलग हो पाता है।

योगदर्शन को सांख्य दर्शन के साथ कैसे और क्यों प्राचीन भारतीय दर्शनिकों ने जोड़ा यह कहना कठिन है। इन दर्शनों की वैचारिक भूमिका और उसके आधारभूत चित्त, चित्तवृत्ति, संस्कार आदि अनेकानेक संप्रत्यय इनमें बहुत भेद है। यही नहीं, योग स्पष्टतया ईश्वरवादी है, जबकि सांख्य ईश्वरास्तित्व का विचार ही नहीं करता। बंध-मोक्ष या सृष्टि-प्रलय की प्रक्रियाओं को जड़ तथा नैसर्गिक मान लेने पर ईश्वर या पुरुष की कारणता की इन प्रक्रियाओं के संचालक के रूप में कल्पना निरर्थक हो जाती है। किन्तु योग पुरुष के प्रयास और ईश्वर की कृपा इन दोनों के साहचर्य की चित्तवृत्ति-निरोध रूप मोक्ष के लिए आवश्यकता की हिमायत करता है। पुरुष का प्रयास यम, नियमादि अष्टाँग योग साधनात्मक होता है। इस साधना के परिपाक से ही उसे चित्त के अविरल, अनियंत्रित प्रवाह का निरोध कर स्वरूपावस्थिति रूप समाधि की स्थिति प्राप्त होती है। बंध की स्थिति में पुरुष पूर्णतया चित्त-परवश होकर 'वृत्तिसारूप्यमितरभ' इस योगभाष्य की उक्ति के अनुसार चित्त की सतत परिवर्तनमान वृत्तियों से एकाकार हो जाता है। चित्तवृत्तियों का प्रवाह इतना प्रबल होता है कि उनका अवरोध करने के लिए पुरुष को योगसाधना के अतिरिक्त ईश्वर-प्रणिधान रूप नियम का भी सहारा लेना पड़ता है। इस विशेष तथ्य को जानते हुए यह नहीं माना जा सकता कि योग किसी भी प्रकार सांख्य से जुड़ा हुआ है। योग की तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, प्रमाणमीमांसा तथा परामार्थमीमांसा–जो समाधि से संबंध रखती हैं–सांख्यचर्चित इन सब मीमांसाओं से नितांत भिन्न हैं। एक बात जो योग को सांख्य से बिलकुल अलग या उसका विरोधी भी बना देती है वह यह है कि सांख्य मतानुसार बंध-मोक्ष या सृष्टि-प्रलय की प्रक्रियायें बिलकुल स्वाभाविक (सां.का. 'तस्मान्न बध्यतेद्धा न मुच्यति नापि संसरति कश्चित् बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः') होती है जबकि योगमतानुसार पुरुष को तो प्रयास करना ही पड़ता है। ईश्वर को भी इसमें हाथ बटाना पड़ता है। योग की प्रत्येक साधना पुरुष-प्रयत्नापेक्षी है।

योगदर्शन का दर्शन-संप्रदाय एक प्रकार से योग-साधना-रूप, अर्थात् योगभाष्य के प्रारंभ में ही स्पष्ट किये मुताबिक 'चित्तवृत्ति निरोध-रूप, ही होना चाहिये'। दार्शनिक चिंतन, वह अपूर्ण या अस्थायी ही क्यों न हो, चित्तवृत्ति निरोध रूप एकाग्रता से ही संभव है। कोई भी गंभीर चिंतन योगभाष्य में वर्णन किये मुताबिक अविरल प्रवहमान वृत्ति-संस्कार चक्र के अस्थायी अवरोध द्वारा दार्शनिक का स्वरूपावस्थित होना ही है। यह अष्टाँग योग का ही पूर्णरूप माना जा सकता है।

अद्वैत वेदान्त ब्रह्मज्ञान रूप दर्शन-संप्रत्यय का समर्थन करता है। परमार्थ-सत्यरूप ब्रह्म, जिसका स्वरूप–'बृहत्वात् बृंहणत्वात् वा ब्रह्म' इस शाब्दिक स्पष्टीकरण के अनुसार और उपनिषत् की 'यतो वा इमानि भूतानि जायंते, येन जातानि जीवंति, यत्प्रेत्य अभिविशंति' इस लक्षणपरक उक्ति के भी अनुसार 'वस्तुमात्र का

अभिन्न निमित्तोपादानरूप व्यापकतम तत्त्व' यह है, वह अद्वैत वेदान्त दर्शन का विचारणीय विषय है। द्वैतमय जीवन से पूर्णतया विरक्त या उपरत होने पर ही जीवन के इस परम लक्ष्य की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है। इस हेतु से ही अद्वैत के सब ग्रंथों में द्वैत की असत्यता प्रस्थापित कर उसकी प्रातीतिकता को यथासंभव तीव्र बनाने का तार्किक प्रयास किया जाता है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन ये जो क्रमिक ज्ञान रूप साधाना की अवस्थायें हैं-जिनके द्वारा ज्ञान का सात्मीकरण हो पाता है, उनमें तर्क से अद्वैत का प्रस्थापन, यह श्रवण की अवस्था मानी जा सकती है। श्रवण के अनंतर किया जाने वाला मनन यह स्वात्ममनन या स्वीय मानसिक चिंतन है। अपने को अपने तर्कों की सत्यता की तसल्ली दिलाना है। द्वैतवादियों को तर्कों से खंडित करना विशेष कठिन नहीं है। उसके लिए कुछ तर्ककुशलता की ही ज़रूरत होती है। जैसा कवि तार्किक चक्रवर्ती श्रीहर्ष अपने खंडनखंड खाद्य के प्रारंभ में कहते हैं-

**शब्दार्थ निर्वचन खंडनया नयंतः,**
**सर्वत्र निर्वचनभावे अखर्वगर्वान्।**
**धीरा मदुक्तमपि कीरवदेदुक्त्वा,**
**लोकेषु दिग्विजय कौतुक मातनुध्वम्।।**

तर्कों के द्वारा किसी सिद्धान्त को उसे न मानने वालों पर थोपकर संतुष्ट होना उस सिद्धान्त की वास्तविक प्रस्थापना नहीं है। स्वात्म मनन से ही यह प्रस्थापना की जा सकती है।

व्यावहारिक द्वैतमय सांसारिक जीवन में भी अद्वैत रूप ब्रह्म की आंशिक प्रतीति या अनुभव दृष्टि-भेद से प्राप्त किया जा सकता है। यह बात अद्वैत संप्रदाय के प्रवर्तक शंकराचार्य ने परमार्थ सत्य के साथ व्यावहारिक सत्य के पुरस्कार द्वारा स्पष्ट कर दी है। 'वाचारंभणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इस अत्यंत अर्थपूर्ण उपनिषद्-वाक्य में वर्णन किये मुताबिक किस दृष्टि से हम वस्तुओं को देखते समझते हैं, इस बात पर हमारी द्वैत या अद्वैत प्रतीति निर्भर करती है। मिट्टी से गढ़े हुए भिन्न-भिन्न आकार के खिलौने या सोने से गढ़े हुए तरह-तरह के आभूषण एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न प्रतीत होते हैं। लेकिन कुम्हार या सुनार को वे मिट्टी या सोने की विभिन्न आकृतियां ही-जो बदली या नष्ट की जा सकती हैं-प्रतीत होंगी। इन आकृतियों में अपरिवर्तनीय व्यापक तत्त्व मिट्टी या सोना ही है जिसे आकृत्याधारित विभिन्न संज्ञायें दी जाती हैं। अद्वैत वेदान्त वस्तुमात्र के प्रति व्यापक या व्यापकतम दृष्टि अपनाने का आनुभविक तथा तर्काधारित उपदेश देता है। इस आदेश को स्वीकार करने का अधिकार रखने वाला ब्रह्मजिज्ञासु व्यक्ति ब्रह्मज्ञान की दिशा में कुछ न कुछ अग्रसर हुआ होना चाहिये। उसे ब्रह्मज्ञान से अन्य सब बातें उपनिषद्-वाक्यों में यत्र-तत्र बतायी बातों (जैसे 'अतोन्यदार्तम्' 'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्', 'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न

चेदिहावेदीन्महती विनष्टि:' इन और इन जैसी अनेक सूक्तियों में) से भिन्न बातें निरर्थक प्रतीत होनी चाहियें। इस बात को 'इहामुत्रार्थफलभोगविराग' इस कथन से निर्दिष्ट कर उसे ब्राह्मज्ञान के लिए अपेक्षित साधन चतुष्टय में शंकराचार्य ने समाविष्ट किया है। शेष तीन साधन नित्यानित्यवस्तुविवेक, शम, दम, उपरति, श्रद्धा इत्यादि तथा मुमुक्षा ये हैं।

उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि अद्वैत संप्रदायानुसार वेदान्त दर्शन ब्रह्मज्ञानरूप दर्शन-संप्रत्यय का-जिसे व्यावहारिक दैनंदिन जीवन में भी कार्यान्वित किया जा सकता है-पुरस्कारक है।

रामानुज प्रवर्तित विशिष्टाद्वैत वेदान्त भारतीय दर्शनों में एकमात्र शुद्ध ईश्वरवादी दर्शन है। कर्तुमकर्तुं अन्यथाकर्तुं समर्थ, अनंत कल्याण गुण मंडित, अपार कृपासागर परमेश्वर की धारणा का तात्त्विक समर्थन विशिष्टाद्वैत वेदान्त में ही किया गया है। नैयायिक, जो एकमात्र अन्य ईश्वरवादी भारतीय दार्शनिक हैं, ईश्वर को एक प्रकार से विश्व की पूर्वसिद्ध साधनों से संरचना का ही कारण मानते हैं। विशिष्टाद्वैत जीव-जगद्विशिष्ट परमेश्वर को एक पूर्ण अविभाज्य इकाई मानता है। एतदर्थ वह विशिष्ट को शुद्ध से अतिरिक्त ही समझता है। ऐसे परमेश्वर की सत्ता की अनुभूति तर्कादि से कभी नहीं हो सकती। अत: द्वैतनिषेधक अद्वैतियों के सब तर्क निष्प्रयोजन हैं। इन तर्कों पर आधारित मायावाद भी भ्रामक है। ये सब परमेश्वर की अनुभाव्य विशिष्ट सत्ता के एक प्रकार से बाधक होने से वे सत्य नहीं हो सकते। तर्कों का परित्याग कर उपासनात्मक चिंतन के द्वारा ही परमेश्वर की विशिष्ट सत्ता का हार्दिक अवगाहन संभव है। यह उपासना अद्वैतोपदिष्ट मनन से नितांत भिन्न है। इस मनन की परिणति निदिध्यासन के माध्यम से साधक की ब्रह्मरूपता में हो जाती है ('ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति') लेकिन उपासना उपासक को ईश्वर-सायुज्य प्राप्त कराती है, ईश्वरस्वरूपता नहीं। अत: विशिष्टाद्वैत के अनुसार दर्शन एक प्रकार की उपासना या उपासनात्मक ज्ञान है।

अनेकान्तवादी जैन दर्शन यह अद्वैत वेदान्त के समान ही एक समीक्षात्मक दर्शन है। इन दोनों में सामान्य फर्क यह है कि वेदान्त की अन्य दर्शन-समीक्षा निषेधात्मक हुआ करती है जबकि जैन दर्शन की समीक्षा पूर्णतया निषेधात्मक नहीं होती। जैनों ने दर्शनों को नय और प्रमाण में विभक्त किया है। नय आंशिक दृष्टिकोण की जैन निर्मित संज्ञा है। जैसे वस्तुमात्र को व्यापक दृष्टिकोण से जानना-समझना एक बात है और उसे सीमित दृष्टिकोण से जानने का प्रयास करना दूसरी बात है। वेदान्त का दार्शनिक दृष्टिकोण व्यापकतम है जबकि बौद्धों का क्षण-भंगवादी दृष्टिकोण अत्यंत संकुचित है। वैशेषिकों का दृष्टिकोण न अति व्यापक है न अति संकुचित। वैशेषिक गुणकर्मादि विशिष्ट और अक्षणिक या दीर्घकाल स्थायी द्रव्य की सत्ता स्वीकार करते हैं। यह भी एक दृष्टिकोण ही है, पूर्ण सत्य नहीं। पूर्ण सत्य का शब्दों से निर्देश नहीं किया जा सकता। पूर्ण सत्य में सभी आंशिक सत्य या दृष्टिकोण समाविष्ट होते हैं। यह बात एक

सर्वपरिचित उदाहरण से स्पष्ट की जाती है। सात अंधे लोग हाथी का आकार कैसा होता है यह जानने के लिए हाथी के शरीर को टटोलने लगे। किसी ने हाथी की सूंड, किसी ने उसकी पूँछ, किसी ने उसका पैर तो किसी ने उसके पेट को टटोला और इस टटोलने से पायी हाथी के शरीर की अपनी-अपनी जानकारी को व्यक्त किया। यह जानकारी न गलत कही जा सकती है न सही। पीछे दार्शनिकों की तत्त्वमीमांसीय प्रतिबद्धता का उल्लेख किया गया है। यह प्रतिबद्धता दार्शनिकों में स्वाभाविक है। इसीकी ओर नय-सिद्धान्त का इशारा है।

पूर्णसत्य की पूर्णता का ज्ञान ही 'प्रमाण' संज्ञा से निर्देश्य है। लेकिन प्रमाण ज्ञान को स्वीकार करते हुए जैन यह नहीं बताते कि इस ज्ञान का आकार क्या होगा। इस ज्ञान को वेदान्तियों के समान वे अनिर्वचनीय भी नहीं कह सकते। उन्होंने अनिवर्चनीय या 'अव्यक्त' को एक आंशिक दृष्टिकोण के रूप में ही अपने 'स्याद्वाद' में समाविष्ट किया है। अत: एक आंशिक सत्य समग्र की समग्रता को नहीं व्यक्त कर सकता। जो भी हो, अनेकान्त वस्तुओं का उनकी समग्रता में ज्ञान ही प्रमाण है और यही दर्शन का स्वरूप है। ऐसा जैनदर्शन का मंतव्य है। तत्त्वज्ञ-सर्वज्ञ होता है क्योंकि उसके ज्ञान को परिच्छिन्न करने वाले शरीरादि उससे अलग हो जाते या नष्ट हो जाते हैं।

बौद्ध सम्यक् ज्ञान को दर्शन का लक्ष्य या स्वरूप मानते हैं। ज्ञान की सम्यक्ता इस बात में निहित है कि वह हमें ज्ञेय वस्तु तक (या उसकी प्राप्ति तक) पहुँचाता है। स्थूल वस्तु-प्रापक ज्ञान सत्य या सम्यक् नहीं हो सकता क्योंकि स्थूल वस्तु सत्य नहीं होती। क्षणिक वस्तु-पुंज ही स्थूल के रूप में दृग्गोचर हुआ करता है। सम्यक् ज्ञान बौद्ध (सौत्रांतिक संप्रदायानुयायी) सम्मत परमपुरुषार्थ की प्राप्ति में सहायक होता है। यह पुरुषार्थ बुद्धचरित नामक काव्य में अश्वघोष नामक बौद्ध पंडित ने निम्न कविता में एक सरल उदाहरण द्वारा उपवर्णित किया है-

**द्वीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतः**
**नैषावनिं गच्छति नांतरिक्षम्।**
**दिशं न कांचित् विदिशं न कांचित्।**
**स्नेहक्षयात् केवलमेति शांतिम्।।**

दिया बुझ जाने पर वह ज़मीन के भीतर या आकाश में अंतर्हित हो गया अथवा इस या उस दिशा में तिरोहित हो गया, ऐसा कोई नहीं समझता। तेल जल जाने पर दिया या उसकी लौ नि:शेष हो गयी, ऐसा ही लोग मानते हैं। इसी प्रकार आत्मा का भी-जो अनेक मनोवृत्तियों का संघातमात्र है-पूर्ण विशीरण हो जाता है और आत्म घटक मनोवृत्तियां ही अपनी क्षणिकता में शेष रह जाती हैं।

बौद्ध पंडितों ने तर्क से वस्तुमात्र की (आत्म-सहित) क्षण-भंगुरता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। वह बहुत कुछ आनुभविक भी है। यदि प्रतिक्षण वस्तुओं में अंतर्बाह्य परिवर्तन न हो तो वे कभी नष्ट नहीं होंगी। क्रमिक परिवर्तन भी पूर्ण परिवर्तन हो जाता है, आंशिक नहीं क्योंकि जो अंश परिवर्तित नहीं हुआ वह कभी नष्ट नहीं होगा। ऐसा होते हुए भी यह मानना कि मनुष्य जीवन का परमसाध्य आत्मनिर्वाण अर्थात् आत्मविनाश ही है, स्वीकारार्ह नहीं प्रतीत होता।

अब तक के विभिन्न भारतीय दर्शनों के सामान्य सिंहावलोकन से उनके द्वारा एकैकशः पुरस्कृत दर्शन-संप्रत्ययों या दार्शनिक दृष्टिकोणों का, जिन्हें दार्शनिक-प्रतिबद्धता भी कह सकते हैं (बौद्धों ने इनके लिए 'गोत्र' शब्द का कहीं कहीं प्रयोग किया है) वास्तविक स्वरूप जो 'तत्त्वज्ञान' इस सामान्य संज्ञा के पीछे छिपा हुआ सा है–प्रकट हो जाता है। ये संप्रत्यय वादविधितत्त्वज्ञान, पदार्थतत्त्वज्ञान, प्रमाणतत्त्वज्ञान, धर्माधर्मतत्त्वज्ञान, वाक्यार्थतत्त्वज्ञान, सामान्यपदार्थतत्त्वज्ञान, सत्वपुरुषान्यतातत्त्वज्ञान, आत्मस्वरूपतत्त्वज्ञान, ब्रह्मतत्त्वज्ञान, परमेश्वरस्वरूप का उपासनाधारित तत्त्वज्ञान या भक्तिरूपतत्त्वज्ञान, सर्वज्ञान तथा सम्यक् ज्ञान इन विभिन्न संज्ञाओं से निर्धारणीय हैं। विश्व तथा विश्व-स्रष्टा परमेश्वर को, वैश्विक जीवन के आधारभूत जीवात्मा को तथा इनके परस्पर संबंध को समझने के ये विभिन्न दृष्टिकोण हैं। इन दृष्टिकोणों की विभिन्नता के कारण ही इनके पुरस्कारक दर्शनों पर पिष्टपेषण, पुनरुक्ति आदि दोषों का आरोप नहीं किया जा सकता जैसा पारंपरिक पश्चिमी दर्शन पर किया गया था। भारतीय दर्शन आध्यात्मिक साधना-पर्यवसायी तत्त्वचिंतन है जो अंतिमतः तत्त्वचिंतक को जीवन के परमलक्ष्य तक पहुँचाता है, ऐसी सभी भारतीय दार्शनिकों की धारणा है। यही कारण है कि प्रत्येक दर्शन के आकर ग्रंथ का प्रारंभ इस उक्ति से किया हुआ होता है कि तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है और तत्त्वज्ञान दर्शन के चिंतन से प्राप्त होता है।

16, दि एन्क्लेव
मनुकाऊ, गाडंस्
**ऑकलैंड** (न्यूज़ीलैंड)

# प्रमाणमीमांसा : दार्शनिक चिन्तन का आरम्भबिन्दु

सच्चिदानन्द मिश्र

मैं दो बातें प्राथमिक तौर पर स्पष्ट कर देना चाहता हूँ, जिनके कारण इस आलेख को लिखने में मेरी प्रवृत्ति हुई। प्रथम यह कि भारतीय दर्शनों के बारे में सामान्यत: ऐसा मान लिया जाता है कि वे कुछ एक प्राग्विमर्शीय अवधारणाएँ लेकर चलते हैं तथा उन प्राग्विमर्शीय अवधारणाओं से ऊपर उठकर विचार नहीं करते, प्रमाण की अवधारणा भी इसी कारण समस्त दार्शनिक सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न है क्योंकि उनके द्वारा स्वीकृत तत्त्वमीमांसीय प्राग्विमर्शीय अवधारणाएँ उनके प्रमाणविषयक विवेचन को भी समग्रता से प्रभावित करती हैं। दूसरी यह है कि कुछ एक दर्शनपरम्पराओं के विषय में यह कहा जाता है कि वे अपनी प्रमाणव्यवस्था को बाद में व प्रमेयव्यवस्था को पूर्व में निर्धारित करती हैं। मैं इन दोनों ही पक्षों को सत्य मानने की स्थिति में स्वयं को नहीं पाता हूँ। प्राग्विमर्शीय अवधारणाएँ हैं तो अवश्य, परन्तु वे ज्ञानमीमांसीय क्षेत्र की ही प्राग्विमर्शीय अवधारणाएँ हैं, तत्त्वमीमांसा की नहीं। ज्ञानमीमांसीय प्राग्विमर्शीय अवधारणाओं से तो कोई भी दार्शनिक चिन्तन मुक्त नहीं रह सकता। आखिर कोई किस प्रकार बिना सम्यक् परीक्षा किये प्रत्यक्ष के ऊपर रीज़न की महत्ता स्वीकार कर सकता है या हमारे समस्त ज्ञानों का मूल अनुभव ही है, यह स्वीकार कर सकता है? मेरा आशय है कि भारतीय परम्परा भी पाश्चात्य परम्परा के समान ज्ञानमीमांसीय प्राग्विमर्शीय अवधारणाओं का आधार ग्रहण करते हुए ही भिन्न-भिन्न दार्शनिक प्रस्थानों के रूप में विकसित हुई है, न कि तत्त्वमीमांसीय प्राग्विमर्शीय अवधारणाओं के आधार पर। मोक्ष, निर्वाण आदि अवधारणाओं को भी मैं तत्त्वमीमांसीय प्राग्विमर्शीय अवधारणा माने जाने के पक्ष में नहीं हूँ।

भारतीय परम्परा में सामान्यतया 'मानाधीना मेयसिद्धि:' को एक सर्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जाता है। वस्तुगत रूप में प्रमेय के ऊपर प्रमाणों की विशिष्ट भूमिका को स्वीकार करना उचित ही नहीं अनिवार्य भी दिखता है। न्याय परम्परा 'मानाधीना मेयसिद्धि:' को अत्यन्त आग्रहपूर्वक प्रस्तुत करती है। कुछ विद्वान इस सिद्धान्त के प्रतिपक्ष में बौद्धों की ओर से 'मेयाधीना मानसिद्धि:' सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हैं।[1] मैं इस आलेख में यही दिखाने का प्रयास करूँगा कि क्या इस प्रकार की अवधारणा को स्वीकार करने का वस्तुत: कोई शास्त्रीय आधार है, और क्या यह अवधारणा युक्तिसङ्गत है? मुझे इस अवधारणा के बौद्धपरम्परा के द्वारा समर्थित होने का कोई शास्त्रीय आधार नहीं प्राप्त हो पाया, इस कारण बौद्धपरम्परा के द्वारा इस

अवधारणा के स्वीकृत होने की बात मुझे अस्वीकार्य प्रतीत होती है। न्यायपरम्परा के समान ही बौद्धपरम्परा भी 'मानाधीना मेयसिद्धिः' को स्वीकार कर चलती है, मुझे ऐसा लगता है। इन दोनों परम्पराओं की प्रारम्भिक मान्यताओं के विवेचन के माध्यम से इस समस्या को ज़्यादा गहराई से विवेचित किया जा सकता है, इस कारण प्रथमतया मैं उस पर ही विचार करूँगा।

(1)

न्यायदर्शन व बौद्धदर्शन के आपसी बौद्धिक संघर्ष का जितना पुराना इतिहास रहा है सम्भवतः वह विश्व इतिहास में अनूठा है। दोनों ही दृष्टियों की यह खासियत रही है कि एक जैसे शस्त्रों के द्वारा एक समान भूमि पर दोनों सम्प्रदायों के विद्वानों ने परस्पर एक दूसरे के सिद्धान्तों व आलोचनाओं के आलोक में अपने-अपने सिद्धान्तों का परिष्कार करते हुए इस बौद्धिक सङ्घर्ष को आगे बढ़ाया। दोनों की ही दृष्टियाँ मौलिक रहीं हैं, दोनों ही अपने पक्ष के परिवर्धन व परिरक्षण के लिए किसी शास्त्र की दुहाई नहीं देते हैं। परन्तु इन दोनों दर्शनों के निष्कर्ष एकदम से भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इन संङ्घर्षों से गुज़रते हुए न्यायदर्शन एक परमवस्तुवादी दर्शन के रूप में विकसित होता है व बौद्धदर्शन की परिणति एक शून्यवादी दर्शन में होती है, या उससे भी आगे बढ़ते हुए विज्ञानवादी दर्शन में।

न्यायदर्शन का प्रारम्भिक ग्रन्थ है **न्यायसूत्र** व न्यासूत्र के प्रारम्भिक विरोधी रहे हैं नागार्जुन। नागार्जुन ने **विग्रहव्यावर्तनी** व **वैदल्यसूत्र** के द्वारा न्यायसिद्धान्तों का बड़ा ही विध्वसंक खण्डन किया है। न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने उक्त दोषों के निराकरण का प्रकृष्ट प्रयत्न किया है।

न्यायसूत्रों में सामान्यतया प्रमाणविषयक कोई लक्षण उपलब्ध नहीं होता, यहाँ तक कि प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाणों का भी कोई लक्षण उपनिबद्ध नहीं किया गया है। परन्तु जैसाकि पारम्परिक दृष्टि से माना जाता है, 'प्रमाण' शब्द की व्युत्पत्ति से ही प्रमाण का लक्षण प्राप्त हो जाता है, इसी कारण न्यायसूत्र में न तो प्रमाणसामान्य का ही लक्षण प्रस्तुत किया गया है और न प्रमाणविशेषों का ही। केवल प्रमाविशेषों के जो करण हैं वही प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान व शब्द प्रमाणों के द्वारा अभिहित किये जाते हैं। परन्तु यदि हम न्यायपरम्परा के साथ-साथ ही विकसित बौद्धपरम्परा पर दृष्टि डालें तो यह परिस्थिति एक सन्देह को जन्म देती है कि क्या कहीं ऐसा तो नहीं है कि बौद्धपरम्परा की तरह प्रारम्भिक न्यायपरम्परा में भी प्रमा व प्रमाण का विभाग मान्य नहीं रहा हो? यह ध्यातव्य है कि बौद्धपरम्परा किसी प्रमा व प्रमाण के विभाग को मान्य नहीं करती है, ज्ञान को ही प्रमाण मानती है। इस कारण यहाँ पर यह विचांर कुछ विशिष्ट चिन्तन की

अपेक्षा करता है कि वस्तुत: स्थिति क्या रही होगी। क्या जैसा परम्परा के द्वारा न्यायसूत्र को समझा गया है, वह सही है?

न्यायदर्शन में प्रमाणों को बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। नव्यन्याय में प्रमाणविषयक चिन्तन को जो अत्यधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है उसके बीज न्यायसूत्र में विद्यमान हैं। स्पष्टत: गोतम भी प्रमाणों को प्रमेय की अपेक्षा ज़्यादा महत्त्वपूर्ण स्थान देते हुए दिखते हैं। गोतम 'प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्प–वितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्नि:श्रेयसाधिगम:' **न्यायसूत्र** 1.1.1 में प्रमाणों का परिगणन प्रमेयों के पूर्व ही करते हैं, जिसका आशय प्रमाणों को प्रमुख स्थान देना ही है। नव्यन्याय के प्रवर्तक के रूप में विख्यात गङ्गेशोपाध्याय तो इससे भी आगे जाते हुए कहते हैं कि ''प्रमाणाधीना सर्वेषां व्यवस्थितिरिति प्रमाणतत्त्वमत्र विविच्यते'' (**तत्त्वचिन्तामणि** प्रत्यक्षपरिच्छेद, प्रामाण्यवादप्रारम्भ) जहाँ न्यायपरम्परा सभी पदार्थों की व्यवस्थिति के लिए प्रमाणों की अधीनता स्वीकार करती है वहीं दूसरी ओर बौद्धपरम्परा अपने मूलगामी रूप में यह दावा करती है कि न तो प्रमाण की सिद्धि सम्भव है और न ही प्रमेय की सिद्धि ही (द्रष्टव्य–**माध्यमिकारिका, विग्रहव्यावर्तनी** आदि) यही न्याय व बौद्ध–परम्पराओं के वैचारिक दृष्टिकोण की भिन्नता का मूल कहा जा सकता है।

परवर्ती काल में धर्मकीर्ति के द्वारा 'मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात्' इस प्रकार की उपस्थापना के कारण कुछेक विद्वानों के द्वारा ऐसा व्याख्यायित किया जाता है कि धर्मकीर्ति का यह कथन न्यायपरम्परा के प्रतिपक्ष में एक नवीन अवधारणा को उपस्थित कर रहा है। अभिप्राय यह है कि नैयायिकों के 'मानाधीना मेयसिद्धि:' सिद्धान्त के विपरीत 'मेयाधीना मानसिद्धि:' का सिद्धान्त बौद्धपरम्परा में स्वीकार किया गया है। यहाँ इस तथ्य की ओर भी ध्यान देना चाहिए कि 'मेयाधीना मानसिद्धि:' जैसा कोई भी वाक्य किसी भी शास्त्र में कहीं भी उपलब्ध नहीं है। प्रमेय की सिद्धि प्रमाणों के अधीन नहीं होती है इस प्रकार की स्वीकृति अनेक अन्तर्विरोधों को जन्म देती है, क्योंकि यदि ऐसा है तो प्रमेयों की सिद्धि किसके द्वारा सम्भव होगी? बिना किसी आधार के प्रमेयों की सिद्धि स्वीकार करना तो एक प्रकार से अन्धविश्वास ही होगा! आख़िर प्रमेयों का द्वैविध्य तो किसी न किसी आधार पर सिद्ध होना ही चाहिए! ध्यातव्य है कि बौद्ध परम्परा प्रमेयों के द्वैविध्य की सिद्धि के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण का उपस्थापन करती है।[2] स्वयं धर्मकीर्ति प्रमेयद्वैविध्य की सिद्धि के लिए जिन हेतुओं का उपस्थापन करते हैं उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रमेय द्वैविध्य की सिद्धि के लिए विविध अनुमानात्मक प्रमाणों का उपस्थापन कर रहे हैं।[3] विषय की शक्ति व अशक्ति, विषय का सदृशत्व व असदृशत्व, शब्दविषयत्व व शब्दाविषयत्व के द्वारा प्रमेयद्वैविध्य का अनुमान ही **प्रमाणवार्तिक** के लेखक कर रहे हैं। परन्तु विषय की शक्ति व अशक्ति, विषय का

सदृशत्व व असदृशत्व, शब्दविषयत्व व शब्दाविषयत्व तो ज्ञात होना चाहिए! आख़िर अज्ञात हेतु तो साध्य का अनुमान करा पाने में सक्षम नहीं होगा! **प्रमाणवार्तिक** पर **वार्तिकालङ्कारभाष्य** के प्रणेता प्रज्ञाकर गुप्त ने जिस प्रकार से इनकी व्याख्या की है, उससे इनका ज्ञान स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा ही प्राप्त होने का सङ्केत मिलता है।[4] यह द्वैराश्य-भेद वस्तुतः स्वसंवेदनप्रत्यक्ष के द्वारा ही गृहीत होता है। **प्रमाणवार्तिक** पर वृत्ति लिखते हुए मनोरथनन्दी धर्मकीर्ति के 'मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात्' कथन की व्याख्या करने के प्रसङ्ग में प्रश्नपूर्वक 'प्रमेयद्वैविध्य की सिद्धि किस प्रकार होगी' इस आशङ्का का समाधान करते हैं–

''यदि विषयद्वैविध्य के कारण प्रमाणद्वैविध्य की सिद्धि होती है तो विषयद्वैविध्य की सिद्धि किस प्रकार होगी? विषयद्वैविध्य की सिद्धि न तो प्रत्यक्ष से हो सकती है और न ही अनुमान से, क्योंकि प्रत्यक्ष व अनुमान के विषय क्रमशः स्वलक्षण व सामान्यलक्षण ही होते हैं, अतः किसी एक की सिद्धि ही प्रत्यक्ष या अनुमान से हो सकती है। यदि कहो कि प्रत्यक्ष व अनुमान इन दो प्रमाणों के द्वारा क्रमशः स्वलक्षण व सामान्यलक्षण इन दोनों प्रकार के विषयों की सिद्धि हो जाती है, तो समस्या यह है कि यदि इस प्रकार प्रत्यक्ष का विषय केवल स्वलक्षण व अनुमान का विषय केवल सामान्यलक्षण हो तो प्रत्यक्ष का विषय सामान्यलक्षण न होने के कारण साध्य व साधन के सम्बन्ध का ग्रहण ही नहीं हो सकेगा, इस कारण साध्यसाधनसम्बन्धग्रहणमूलक अनुमान का मूलोच्छेद ही हो जाने के कारण उसको प्रमाण मान पाना सम्भव नहीं होगा। यदि साध्यसाधनसम्बन्ध का ग्रहण कराने के लिए प्रत्यक्ष के द्वारा सामान्यलक्षण को भी विषय किया जाता है, ऐसा मान लिया जाये तो प्रत्यक्ष के द्वारा ही सामान्यलक्षण की भी सिद्धि हो जायेगी। इस कारण अनुमान का प्रामाण्य स्वीकार करना तो पुनः व्यर्थ ही होगा। तो समाधान यह है कि प्रत्यक्ष भी स्वलक्षण को विषय करता हुआ, उस स्वलक्षण से (विकल्परूप में) सम्भूत विजातीय व्यावृत्ति से कल्पित सामान्य को पृष्ठभावी विकल्प के द्वारा निश्चित कराता हुआ सामान्यलक्षणविषयक भी हुआ करता है। प्रत्यक्ष सामान्यलक्षण का निश्चायक होने के कारण सामान्यलक्षणविषयक होता है। प्रत्यक्ष के सामान्यलक्षणविषयक होने पर तो प्रत्यक्ष की स्वलक्षणविषयता नहीं हो सकेगी, तो ऐसा नहीं है क्योंकि सजातीयव्यावृत्तत्व रूपेण भी प्रत्यक्ष से निश्चय होता है। स्वलक्षण में दो प्रकार की व्यावृत्तियाँ प्रत्यक्षबल से निश्चित होती हैं, एक व्यावृत्ति सजातीय से तथा दूसरी व्यावृत्ति विजातीय से (इसलिए प्रत्यक्ष का विषय दोनों हैं, स्वलक्षण भी तथा सामान्यलक्षण भी। स्वलक्षण ग्राह्यरूप में विषय है तथा सामान्यलक्षण अध्यवसेयरूप में)। तब तो (प्रत्यक्ष के द्वारा ही सामान्यलक्षण की भी सिद्धि हो जाने के कारण) अनुमान का वैयर्थ्य होगा? नहीं होगा, क्योंकि सामान्यलक्षणमात्र ही (हरेक सामान्यलक्षण) प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, परोक्ष में तो

प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति ही नहीं होती है। ऐसा तो है नहीं कि जो कभी अपरोक्ष है वह हमेशा अपरोक्ष ही होगा। स्वलक्षण कदाचित् अपरोक्ष होने पर भी अन्य काल में परोक्ष ही है। इसी प्रकार सामान्यलक्षण भी कदाचित् अपरोक्ष होने पर भी अन्य काल में परोक्ष ही है। (इस कारण परोक्षभूत सामान्यलक्षण तो प्रत्यक्ष का विषय हो ही नहीं सकता) इस कारण अपरोक्ष सामान्यलक्षण में व्याप्ति का ग्रहण हो जाने के कारण उसमें अनुमान की प्रवृत्ति होती है, इस कारण कोई विरोध नहीं है। इस कारण प्रत्यक्ष से ही विषयद्वैविध्य की सिद्धि होती है, अथवा प्रत्यक्ष व अनुमान से विषयद्वैविध्य की सिद्धि होती है, इन दोनों ही प्रकारों से समाधान किया जा सकता है।''[5]

प्रज्ञाकरगुप्त व मनोरथनन्दी के उपर्युक्त विवेचन के आलोक में धर्मकीर्ति के ''मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात्'' इस वाक्य की व्याख्या इसी प्रकार करनी उचित दिखती है कि चूँकि प्रमाण से सिद्ध होने वाले विषय द्विविध हैं, इस कारण प्रमाणों का भी द्वैविध्य ही स्वीकरणीय है। इसका निहितार्थ यह भी है कि प्रमाणव्यवस्थावादियों को भी अनुमान की प्रवृत्ति को सम्भव बनाने के लिए उपर्युक्त रीति से प्रमाणम्प्लव की सम्भावना स्वीकारनी ही पड़ेगी। प्रत्यक्ष के द्वारा ग्राह्य स्वलक्षण तथा अध्यवसेय सामान्यलक्षण है, इसके विपरीत अनुमान का ग्राह्य सामान्यलक्षण तथा अध्यवसेय स्वलक्षण होता है।

यह भी ध्येय है कि 'मेयाधीना मानसिद्धिः' की ओर किसी भी बौद्ध दार्शनिक का कोई कथन सङ्केत देता नहीं दिखता। इसलिए बौद्धपरम्परा में भी 'मानाधीना मेयसिद्धिः' को स्थान देना ही अपरिहार्य दिखता है। 'मेयाधीना मानसिद्धिः' ऐसा कह देने मात्र से प्रमाणों का महत्त्व तिरोहित कर पाना न तो उचित है और न ही तर्कसङ्गत। किसी भी दार्शनिक परम्परा में यदि प्रमाण व प्रमेय के बीच कोई विभाग है, तो वह प्रमाण को प्राधान्य देकर ही स्वीकृत हो सकता है।

वस्तुतः नागार्जुन, जो कि शून्यतावादी हैं, प्रमाण प्रमेय विभाग को स्वीकार नहीं करते हैं, उनके लिए 'मानाधीना मेयसिद्धिः' का तिरस्कार करना भले ही आसान हो, परन्तु सौत्रान्तिक व वैभाषिक परम्परा के पास नागार्जुन द्वारा प्रस्तुत आक्षेपों का समाधान करने के लिए न्याय-परम्परा के द्वारा सुझाये गये मार्ग के अतिरिक्त कोई मार्ग दिखता नहीं, तथा वे उसी मार्ग पर चलते हुए दिखायी भी पड़ते हैं। धर्मकीर्ति सौत्रान्तिक मार्ग से चलते हुए अपने पक्ष की परिणति विज्ञानवाद में करते हैं, तथा उस विज्ञानवादी रूप में उनके लिए भी प्रमाण-प्रमेय किसी भी प्रकार के विभाग को स्वीकार करना सम्भव नहीं है।

नागार्जुन प्रथमतया 'मानाधीना मेयसिद्धिः' के सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए मुख्य रूप से निम्नलिखित प्रश्न उठाते हैं–

1. प्रमाण व प्रमेय स्वत: असिद्ध हैं, क्योंकि दोनों ही परस्पर सम्मिलित हैं। प्रमाण भी प्रमेय संज्ञा को प्राप्त करता है और प्रमेय भी प्रमाण संज्ञा को। इस कारण स्वयं असिद्ध प्रमाण किस प्रकार से प्रमेय की सिद्धि करा सकेगा?[6]

2. यदि यह माना जाये कि प्रमेयों की सिद्धि प्रमाणों के अधीन हुआ करती है तो प्रथम प्रश्न यह होगा कि प्रमाणों की सिद्धि किसके आधार पर होगी? या तो प्रमाणों की सिद्धि के लिए प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं होती है, या तो होती है। यदि प्रमाणों की सिद्धि के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती है तो प्रमेयों की सिद्धि के लिए ही प्रमाणों की आवश्यकता किस कारण होगी? इसका समाधान यह दिया जा सकता है कि जिस प्रकार दीप के प्रकाशन के लिए दीपान्तर की आवश्यकता नहीं हुआ करती है परन्तु दीपातिरिक्त वस्तुओं के प्रकाशन के लिए दीप की आवश्यकता हुआ करती है उसी प्रकार प्रमेयसिद्धि के लिए प्रमाणों की आवश्यकता तो होती है मगर प्रमाणों की सिद्धि के लिए प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं होती। प्रमाण स्वयंसिद्ध हैं, प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं करते। न्यायसूत्रकार भी 'न, प्रदीपप्रकाशवत्तत्सिद्धेः' (**न्यायसूत्र** 2-1-19) के द्वारा कुछ ऐसा ही कहते प्रतीत होते हैं। नागार्जुन का पक्ष इस पर यह है कि प्रदीप भी अपने आपको प्रकाशित नहीं करता है क्योंकि प्रकाशन का तात्पर्य अन्धकारवध से है, प्रदीप में कभी भी अन्धकार रहा ही नहीं है तो किस प्रकार प्रदीप अपना प्रकाशन कर सकेगा? वस्तुत: प्रदीप अपना प्रकाशन नहीं ही करता है।[7] यदि द्वितीय पक्ष को स्वीकारा जाये कि प्रमाण की सिद्धि प्रमाणान्तर से हुआ करती है, फिर तो अनवस्था से नहीं बचा जा सकेगा क्योंकि प्रथम प्रमाण की सिद्धि के लिए द्वितीय प्रमाण की, द्वितीय की सिद्धि के लिए तृतीय की, तृतीय की सिद्धि के लिए चतुर्थ की, इस क्रम से अनवरत अपेक्षा होने के कारण कहीं पर भी विश्रान्ति सम्भव न होगी तथा इस कारण अनवस्था से बच पाना सम्भव न होगा। न तो प्रथम की सिद्धि सम्भव होगी, न मध्य की, न अन्तिम की सिद्धि ही सम्भव होगी। इस कारण प्रमाण की सिद्धि प्रमाणान्तर से मानने पर प्रमाणसिद्धि असम्भव होगी।[8] इस रीति से न तो प्रमाण की सिद्धि स्वत: हो सकती है और न प्रमाणान्तर से ही हो सकती है।

3. यदि प्रमाणों की सिद्धि को प्रमाणों पर आधारित न मानकर प्रमेयों के अधीन स्वीकारा जाये तो नैयायिकों की प्रतिज्ञा भङ्ग हो जायेगी, क्योंकि उनकी प्रतिज्ञा है कि प्रमेयों की सिद्धि प्रमाणों के अधीन हुआ करती है। अब यदि प्रमाणों की सिद्धि प्रमेयों की सिद्धि के अधीन हो रही है तब तो निश्चय ही प्रमेयसिद्धि को प्रमाणों की सिद्धि के पूर्व होना चाहिए। ऐसा होने पर निश्चय ही प्रमेयसिद्धि प्रमाणनिरपेक्ष रूप से हो रही है।[9]

4. प्रमाणसिद्धि से प्रमेय की सिद्धि तथा प्रमेयसिद्धि से प्रमाण की सिद्धि इस प्रकार परस्परापेक्ष सिद्धि को स्वीकार करने की स्थिति में तो न प्रमाणों की सिद्धि सम्भव होगी और न प्रमेयों की सिद्धि ही, क्योंकि सीधा सा नियम है कि साध्य असिद्ध होता है और

साधन सिद्ध होता है। परस्परापेक्ष सिद्धि को स्वीकार करने की स्थिति में तो दोनों ही एक दूसरे की अपेक्षा से असिद्ध हैं, इस कारण कोई भी किसी का कारण नहीं हो सकेगा।[10]

5. प्रमाणों की सिद्धि न तो प्रमेयों की सिद्धि के पूर्व ही सम्भव है, न ही बाद में और न ही समानकाल में।[11] प्रमाणों की सिद्धि प्रमेयसिद्धि के पूर्व स्वीकार करने पर यह आपतित होता है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की, जिसे नैयायिक प्रत्यक्षप्रमाण के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं, प्रत्यक्षप्रमाण के रूप में स्वीकृति सम्भव न होगी। इसकी वजह यह है कि जब तक प्रमेय अर्थ सिद्ध नहीं है तब तक कैसे इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष सम्भव हो सकेगा? प्रमेय के सिद्धि होने पर ही इन्द्रियार्थसन्निकर्ष सम्भव होगा तथा इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होने पर ही प्रमेय सिद्ध होगा। अतः अन्योन्याश्रय के कारण प्रमाणों की सिद्धि को प्रमेयसिद्धि के पूर्व स्वीकार कर पाना सम्भव नहीं है। प्रमाणों की सिद्धि को प्रमेयों की सिद्धि का परभावी भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह स्वीकार तो पूर्व में स्वीकृत इस सिद्धान्त का विरोधी हो जाता है कि प्रमाणों के अधीन प्रमेयसिद्धि होती है। एक साथ भी प्रमाणों व प्रमेयों की सिद्धि को नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि इस परिस्थिति में तो समस्त इन्द्रियविषयों का ज्ञान एक साथ ही उत्पन्न होने लगेगा। किसी विशिष्ट इन्द्रिय के द्वारा किसी विशिष्ट विषय का ज्ञान होने का नियम नहीं हो सकेगा।

यहाँ पर कुछ अन्य विवेचनों को भी विचाराङ्ग के रूप में रखने से यह समस्या अधिक स्पष्ट होकर सामने आती है। न्यायपरम्परा के द्वारा प्रस्तुत प्रत्यक्ष का लक्षण बाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार किये बिना स्वीकृत नहीं हो सकता है। जब बाह्यार्थ की सत्ता ही सन्दिग्ध है, जब तक बाह्यार्थ की सिद्धि नहीं हो सकी है, तब तक बाह्यार्थ के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष है, यह किस प्रकार कहा जा सकेगा? बाह्यार्थ की सत्ता सिद्ध होने के उपरान्त ही यह प्रत्यक्ष की परिभाषा सम्भव है कि प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से जन्य होता है। लेकिन इस आधार पर यह निगमित करना कि न्यायपरम्परा बाह्यार्थ द्रव्य, गुणादि की सत्ता को बिना किसी प्रमाण के स्वीकार कर लेती है, सही नहीं है। हम इस प्रश्न पर आगे लौटेंगे।

नागार्जुन के द्वारा उपस्थापित आक्षेप गम्भीर किस्म के प्रतीत होते हैं। परन्तु इनका समाधान भिन्न-भिन्न रीति से कमोबेश न्यायसूत्रों में भी उपलब्ध होता है। यह दूसरा प्रश्न होगा कि वे समाधान सन्तोषप्रद हैं या नहीं? आइए, देखते हैं।

न्यायसूत्रकार इनमें से आख़िरी प्रश्न से समाधानों का आरम्भ करते हैं। यह समाधान का आरम्भ वस्तुतः एक प्रश्न के माध्यम से किया जा रहा है। प्रश्न यह है कि अगर त्रिकाल असिद्ध होने के कारण प्रमाण की सिद्धि नहीं हो सकती तो प्रतिषेध के विषय में भी उक्त प्रश्न पूछा जा सकता है कि प्रतिषेध्य प्रतिषेध के पूर्व सिद्ध है या

नहीं? अगर प्रतिषेध्य प्रतिषेध के पूर्व में सिद्ध नहीं है तो उस प्रतिषेध के द्वारा किसका निषेध किया जा रहा है, क्योंकि प्रतिषेध के द्वारा जिसका निषेध किया जाना है वह तो अभी सिद्ध ही नहीं है, तो आखिर किसका निषेध कर पाना सम्भव हो सकेगा? यदि प्रतिषेध्य की सिद्धि पूर्व में व प्रतिषेध की सिद्धि बाद में मानना चाहते हो तो आखिर किस प्रकार से बाद में सिद्ध प्रतिषेध के द्वारा पूर्वसिद्ध प्रतिषेध्य का निषेध कर पाना सम्भव होगा? दोनों की युगपत् सिद्धि मानने की स्थिति में तो प्रतिषेध ही निरर्थक होगा, क्योंकि प्रतिषेध्य की सिद्धि तो स्वीकार कर ही ली गयी। अगर त्रिकाल सिद्ध न होने पर भी प्रतिषेध कर पाना सम्भव है तो प्रमाणप्रमेय की सिद्धि भी उसी प्रकार त्रिकाल में सिद्ध न होने पर भी सम्भव होगी।[12]

वस्तुतः नागार्जुन द्वारा उठाये गये इस अन्तिम प्रश्न को गोतम जात्युत्तर मानते हैं। जात्युत्तर का तात्पर्य स्वव्याघातक उत्तर से समझा जाता है।[13] जात्युत्तर स्वयं के द्वारा उत्पादित कृत्य के समान है, जो स्वयं अपने प्रयोक्ता पर ही प्रहार करता है। न्यायसूत्रों में नागार्जुन द्वारा ऊपर प्रस्तावित प्रश्न का परिगणन अहेतुसमा जाति में किया गया है।[14] अहेतुसमा जाति का समाधान दो प्रकार से किया जा सकता है। एक तरीका यह है कि प्रतिषेध्य व प्रतिषेध में भी पूर्वापरसहभाव सम्भव न होने के कारण उक्त रीति से प्रतिषेध सम्भव नहीं है। जिस प्रकार प्रमाण व प्रमेय में पूर्वापरसहभाव सम्भव न होने के कारण प्रमाण की सिद्धि व प्रमेय की सिद्धि नहीं हो सकती है ऐसा आक्षेप किया जा रहा है उसी प्रकार से प्रतिषेध्य व प्रतिषेध में भी पूर्वापरसहभाव सम्भव न होने के कारण प्रतिषेध सिद्ध न हो सकेगा। प्रतिषेध के सिद्ध न होने पर किस रीति से प्रमाणसिद्धि खण्डित हो सकेगी?[15] प्रमाणसिद्धि का प्रतिषेध न हो पाने के कारण प्रमाणसिद्धि का विरोध करना सम्भव नहीं होगा। इस प्रकार से उक्त प्रश्न का समाधान किया जा सकता है। इसी प्रथम रीति से आशङ्का का समाधान ऊपर किया भी गया है। दूसरा तरीका यह है कि चूँकि हेतु से साध्यसिद्धि होती है, उसमें काल की कोई भूमिका नहीं है। हेतु का साध्य से पूर्व में रहना, परभावी होना या सहभावी होना निष्प्रयोजनक है।[16] अतः उपर्युक्त आक्षेपों का निवारण सामान्य रीति से ही सम्भव है। यहाँ पर एक उदाहरण के द्वारा इस समस्या को सुविचारित रीति से समाहित किया जा सकता है। लोक में घट के प्रति दण्ड की कारणता का व्यवहार किया जाता है। अग्नि के प्रति धूम की कारणता का व्यवहार भी किया जाता है। यह लोकानुभवगम्य है। यहाँ पर भी यह कहा जा सकता है कि घट व दण्ड के मध्य, अग्नि व धूम के माध्य कार्यकारणभाव स्वीकार कर पाना सम्भव न होगा। यह ध्येय है कि जिस अभिप्राय से घट के प्रति दण्ड कारण होता है, उसी अभिप्राय से धूम अग्नि के प्रति कारण नहीं होता है। अपितु धूम अग्नि के प्रति कारण है, इसका अभिप्राय धूम की अग्निज्ञान के प्रति कारणता से है। दण्ड घट के प्रति उत्पादक कारण है, परन्तु धूम अग्नि के प्रति ज्ञापक कारण है। दोनों पर एक ही सिद्धान्त लागू करना उचित नहीं है। नागार्जुन

व उनके अनुगामी दोनों स्थलों में एक ही सिद्धान्त को लगा रहे हैं, जो कि अनुचित है। उत्पादक कारण के स्थल में भी यह कहना सम्भव होगा कि कारण का कार्य के साथ पूर्वापरसहभाव सम्भव न होने के कारण कार्यकारणभाव स्वीकार कर पाना असम्भव है। इसी प्रकार हेतु के द्वारा विज्ञेय की प्रतीति होती है, यह साधारण जनों में भी प्रसिद्ध है। इस लोकप्रतीति का अपलाप करना न उचित है और न तर्कसङ्गत। नागार्जुन, विज्ञानवादी या अद्वैतवादी इनमें से किसी भी पक्ष को मानने की स्थिति में अबाधित लोकप्रतीति को परमार्थ न मानकर व्यवहार के धरातल पर उतार देना आवश्यक हो जाता है, नैयायिक इसे सहन नहीं करते। इसी कारण न्यायपरम्परा नागार्जुन व विज्ञानवादियों के विरोध में जिस प्रकार खड़ी रहती है उसी प्रकार अद्वैतवेदान्त के विरोध में भी। इस कारण हेतु से विज्ञेय का विज्ञान होता है, यह असन्दिग्ध है। इसी रीति से पूर्वापरसहभाव सम्भव न होने के कारण प्रमाणों व प्रमेयों की सिद्धि सम्भव नहीं है, यह कथन असङ्गत है। प्रमाण से प्रमेय की सिद्धि होती है, यह तो व्यवहार से ही सिद्ध है। इसमें किसी सन्देह के लिए कोई अवकाश नहीं है। विचारणीय सिर्फ़ यह है कि प्रमाणों की सिद्धि होती किस प्रकार है? इसका उत्तर गोतम यह देते हैं कि शब्द से जिस प्रकार आतोद्य(वाद्य) की सिद्धि होती है उसी प्रकार प्रमाणों की सिद्धि हो जाती है।[13] यहाँ पर यह ध्येय है कि वस्तुतः आतोद्य ने पूर्व से ही सत्तालाभ कर रखा है, परन्तु उसका ज्ञान नहीं रहा। उसका ज्ञान बाद में हो पाता है, जब शब्द का ज्ञान प्रथमतया हो जाता है। इस सूत्र का आशय ऐसा प्रतीत होता है कि प्रमेयसिद्धि, यानी प्रमेयज्ञप्ति के पूर्व प्रमाण की सिद्धि, यानी प्रमाणज्ञप्ति अपेक्षित नहीं होती है, उसकी सत्तामात्र अपेक्षित होती है।

प्रमाण के प्रमेय के पूर्वापरसहभाव की अनुपपत्ति को न्यायभाष्यकार वात्स्यायन अन्य रीति से भी समाहित करते हैं। कहीं पर प्रमाण प्रमेय से पूर्व में होता है, कहीं पर प्रमेय प्रमाण से पूर्व में होता है, तथा कहीं पर प्रमाण और प्रमेय सहभावी होते हैं। जैसे आदित्यप्रकाश, जो कि उपलब्धि का कारण है, उपलब्धविषय से पूर्व रहता है, प्रदीपात्मक उपलब्धिहेतु बाद में रहता है व प्रदीप से जायमान उपलब्धि का विषय पूर्व में रहता है, धूम व अग्नि साथ-साथ- रहते हैं। यह कोई नियम नहीं है कि प्रमाण प्रमेय से पूर्व ही होता हो, या प्रमाण प्रमेय से बाद में ही रहता हो, या दोनों साथ ही साथ रहते हों। जिस स्थल में जैसा दिखायी दे उस स्थल में वैसा ही मान लेना चाहिए, उसे सर्वत्र लागू करने का प्रयास उचित नहीं है। इस कारण पूर्वापरसहभाव सम्भव न होने के कारण प्रमाणों व प्रमेयों की सिद्धि सम्भव नहीं है, यह कथन अनुचित है।[18] नागार्जुन ने त्रैकाल्य के अनभ्यनुज्ञान की जो आपत्ति उठायी थी उसके समाधान में वात्स्यायन का कथन है कि त्रैकाल्य का अनभ्यनुज्ञान होने पर तो व्यवहार की ही अनुपपत्ति होगी, व्यवहार ही नहीं हो सकेगा। व्यवहार होता है कि 'पाचकमानय, पक्ष्यति' 'पाचक को बुलाओ पकाएगा' इस प्रकार के जो व्यवहार हैं, वे समस्त व्यवहार ही अनुपपन्न होने

लगेंगे। इसका कारण यह है कि भविष्यत्काल में जब वह व्यक्ति पाकक्रिया सम्पादित करेगा तभी आप उसको पाचक कह सकेंगे, वर्तमानकाल में तो उसे पाचक कह पाना सम्भव नहीं होगा। अभी वर्तमानकाल में तो उस व्यक्ति ने पाकक्रिया का सम्पादन ही नहीं किया है तो किस प्रकार से उसे पाचक कह पाना समुचित होगा? इस कारण इस प्रकार के वाक्यप्रयोग अनुपपन्न हो जायेंगे। अत: व्यवहारसम्पादन करने के लिए त्रैकाल्य का अभ्यनुज्ञान आवश्यक है। उसी त्रैकाल्याभ्यनुज्ञान के आधार पर प्रमाणादि की सिद्धि भी हो जायेगी।

शेष समस्त प्रश्नों का तो आपस में बड़ा घालमेल है। वस्तुत: तो वे एक ही आशङ्का के विकल्प व विस्तार हैं। आशङ्का यह है कि प्रमेयों की सिद्धि अगर प्रमाणों के अधीन होती है तो प्रमाणों की सिद्धि किसके अधीन होगी? न्यायसूत्रकार गोतम इस प्रश्न का उत्तर देने में लड़खड़ाते से दिखते हैं। उनका आशय प्रतीत होता है कि प्रमाणों की सिद्धि के लिए प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती अपितु प्रमाण स्वत:सिद्ध होते हैं। 'न प्रदीपप्रकाशवत्तत्सिद्धेः' इस सूत्र का आशय तो कुछ ऐसा ही दिखता है। यहाँ पर वात्स्यायन इस सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'जिस प्रकार प्रदीपप्रकाश प्रत्यक्षाङ्ग होने के कारण दृश्यदर्शन में प्रमाण है और वह प्रत्यक्षान्तर से चक्षुरिन्द्रियसन्निकर्ष से गृहीत होता है ... उसी प्रकार प्रत्यक्षादि की भी प्रत्यक्षादि से ही उपलब्धि होती है।'[19] इस प्रकार वात्स्यायन प्रमाणों की दीप या अग्नि की तरह स्वप्रकाशता नहीं स्वीकार करते हैं, साथ ही बिना प्रमाण के प्रमाणों की सिद्धि भी उनको स्वीकार्य नहीं है। ऐसा लगता है कि गोतम के कथनों में परस्पर असम्बद्धता का निवारण करने के लिए वात्स्यायन इस पक्ष को स्वीकार कर रहे हैं। वस्तुत: 'न प्रदीपप्रकाशवत्तत्सिद्धेः' इस प्रकार से कहते हुए सूत्रकार अपने ही सूत्रान्तर से विरुद्ध बात कहते हुए दिखते हैं। एक दूसरा सूत्र है–'प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्' (न्यायसूत्र) इस सूत्र के द्वारा गोतम स्वयं प्रमाणों की प्रमाणान्तरगम्यता को बता रहे हैं, और यहाँ पर प्रदीपप्रकाश के दृष्टान्त के द्वारा उसकी स्वप्रकाशता का व्यवस्थापन है। इस कारण यह अनुचित ही दिखता है। परस्पर विरुद्ध कथनों को सङ्गति प्रदान करने के लिए 'प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्' इस सूत्र को ज्यादा महत्त्व देते हुए वात्स्यायन ने अपनी व्याख्या प्रस्तुत की है।

वस्तुत: सिद्धि शब्द यहाँ पर किस अभिप्राय से प्रयुक्त है, यह विचारणीय है। इसका कारण यह है कि लोक में इस शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में देखा जाता है। जब हम कहते हैं कि मिट्टी से या दण्ड से घट की सिद्धि होती है तो सिद्धि शब्द का प्रयोग उत्पत्ति के अर्थ में किया जाता है। परन्तु जब हम कहते हैं कि धूम से अग्नि की सिद्धि होती है तो यह प्रयोग धूम से अग्नि की उत्पत्ति के अर्थ में नहीं होता है, अपितु धूम से अग्नि की ज्ञप्ति के अर्थ में होता है। यह परिप्रेक्ष्य ध्यान में रखते हुए 'मानाधीना

मेयसिद्धिः' इस प्रयोग में प्रमेय की ज्ञप्ति के लिए प्रमाण की अपेक्षा ध्वनित होती है, न कि प्रमेय की उत्पत्ति के लिए प्रमाण की अपेक्षा। तो क्या 'मेयाधीना मानसिद्धिः' की उद्घोषणा करने वाले विद्वान इस नियम का विरोध करने का प्रयास करते हैं? और क्या वे यह दावा करते हैं कि प्रमाण की ज्ञप्ति के लिए प्रमेय की अपेक्षा होती है? यह कह पाना सम्भव नहीं है क्योंकि प्रमाण की जब भी ज्ञप्ति होगी तो वह प्रमाण नहीं रह जायेगा अपितु स्वयं ही प्रमेय बन जायेगा। हालाँकि जब प्रमेय की ज्ञप्ति होती है तभी किसी को प्रमाण मानने की भी बात आती है, क्योंकि बिना प्रमेय की ज्ञप्ति के किसी को प्रमाण मानने का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। तो आख़िर प्रमाण को प्राधान्य प्रदान करने का क्या कारण है? प्रमाणों के अधीन प्रमेयों की सत्ता सिद्ध होती है, या प्रमाणों के अधीन प्रमेयों की सत्ता सत्यापित होती है? वात्स्यायन यहाँ यही पक्ष रखते हैं कि प्रमाणों से प्रमेय की सिद्धि का तात्पर्य प्रमाणों से प्रमेय की उपलब्धि ही है। वस्तुतः प्रमाण से उपलब्ध होना ही प्रमेय की सत्ता-सिद्धि या प्रमेय-सत्ता का सत्यापन है। इस परिस्थिति में नागार्जुन का सवाल यह होगा कि प्रमेय की उपलब्धि प्रमाण से होती है तो प्रमाण की उपलब्धि किससे होगी? गोतम व वात्स्यायन का समाधान है कि प्रमाण से ही प्रमाण की उपलब्धि होती है। वस्तुतः प्रमाण के द्वारा प्रत्यक्षादि अनेक अर्थ सङ्गृहीत हो जाते हैं। उनमें से किसी के द्वारा किसी अन्य की उपलब्धि होती है। किन्तु सर्वत्र ही प्रमाणों की सिद्धि प्रमाणान्तर से ही होती हो ऐसा नहीं है। कहीं पर खुद ही प्रमाण से उस प्रमाण की उपलब्धि सम्भव होती है, यथा—ज्ञाता व मन का ग्रहण खुद ज्ञाता व मन के द्वारा ही हो जाता है।'मैं सुखी हूँ' 'मैं दुःखी हूँ' इत्यादि आत्मविषयक प्रत्यक्ष स्वयं आत्मा के द्वारा ही सम्पादित किये जाते हैं, इसी मन के द्वारा मन का अनुमान किया जाता है।[20] ऐसा लगता है कि न्यायसूत्र व न्यायभाष्य का यहाँ पर परस्पर उतना स्वारस्य नहीं है, साथ ही परवर्ती काल में जो न्याय की धारा विकसित हुई वह अनुव्यवसाय की भी प्रमाणान्तरग्राह्यता का आग्रह करती है। वैसे न्यायसूत्र में भी उसके बीज ढूँढे जा सकते हैं, क्योंकि 'प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्' नियम से किस कारण अनुव्यवसाय को मुक्त रखा जाये, यह समझ में नहीं आता।

वात्स्यायन की इस प्रतिष्ठापना को एक उदाहरण के द्वारा समझा जा सकता है। पर्वत में वह्नि का अनुमान धूम के द्वारा किया जाता है, किन्तु वह धूम प्रमाणान्तर : इन्द्रियार्थसन्निकर्षात्मक प्रत्यक्ष : से गृहीत होता है। इस प्रकार की यह धारा बनती तो है, परन्तु अनुव्यवसायात्मक ज्ञातृप्रत्यक्ष पर पहुँच कर उस धारा की विश्रान्ति हो जाती है। व्यवहारकाल में अनुव्यवसायात्मक ज्ञातृप्रत्यक्ष के ग्रहण के लिए प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती, उस अनुव्यवसायात्मक ज्ञातृप्रत्यक्ष के गृहीत हुए बिना किंसी विषयग्रहणमात्र से व्यवहार सम्भव होता है।

यहाँ नागार्जुन का प्रश्न हो सकता है कि यदि ज्ञातृप्रत्यक्षात्मक प्रमाण के ग्रहण के लिए प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती तो किस कारण अन्य के ग्रहण के लिए प्रमाण की अपेक्षा होगी? नागार्जुन के द्वारा उठाये गये इस आक्षेप को भी गोतम जात्युत्तर मानते हैं। इस प्रकार के प्रश्न को गोतम साधर्म्यसमा जाति के अन्दर परिगणित करते हैं।[21] इसका कारण यह है कि इस प्रकार से केवल समानता का प्रदर्शनमात्र कर दिया गया है, किसी विशेष हेतु का प्रदर्शन नहीं किया गया है। जब यह कहा जा रहा है कि यदि प्रमाण के ग्रहणार्थ प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती है तो प्रमेय के ग्रहणार्थ ही प्रमाण की अपेक्षा किस कारण होगी? तो केवल समानता का प्रदर्शनमात्र कर दिया गया है। इसमें कोई आधार नहीं दिखाया गया है। परन्तु केवल साधर्म्य को आधार बनाकर प्रमेयसिद्धि की प्रमाणाधीनता का खण्डन नहीं किया जा सकता, जिसका प्रयास किया जा रहा है। वस्तुत: गोतम यह कहना चाहते हैं कि हमें यह स्वीकार करते हुए चलना चाहिए कि अन्य के लिए प्रमाण की अपेक्षा भले ही होती हो परन्तु ज्ञातृप्रत्यक्षात्मक अनुव्यवसाय के लिए प्रमाण की अपेक्षा व्यवहारकाल में नहीं होती। इस सार्वजनीन अनुभव को तिरस्कृत कर 'उस अनुव्यवसाय में क्या प्रमाण है?' ऐसा प्रश्न करना अनुचित है।

प्रमाणों की प्रमाणान्तरगम्यता स्वीकारने पर जो सबसे बड़ा आरोप न्यायपरम्परा की प्रमाणमीमांसा पर आता है वह है अनवस्था का। इसका निवारण करने का प्रयास वात्स्यायन इस तरह करते हैं कि संविद्विषयनिमित्तों की उपलब्धि से व्यवहार की उपपत्ति हो जाती है।[22] व्यवहार के सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है जिससे कि अनवस्था का उपपादन किया जा सके। ज्ञान के विषय व ज्ञान के निमित्त (कारण) की उपलब्धि से व्यवहार उत्पन्न हो जाते हैं। आशय यह है कि ज्ञान का प्रयोजन व्यवहार है, ज्ञान से विषय की उपलब्धि हो जाने के कारण व ज्ञानान्तरभावी अनुव्यवसाय के द्वारा ज्ञानसाधन की उपलब्धि होकर हमारे व्यवहार सम्भव हो जाते हैं। ज्ञान से विषय की उपलब्धि हो जाती है तथा ज्ञानानन्तरभावी अनुव्यवसाय के द्वारा 'यह मेरा ज्ञान प्रात्यक्षिक है' 'यह मेरा ज्ञान आनुमानिक है' इस प्रकार से ज्ञानसाधन की उपलब्धि भी हो जाती है। उसीसे समस्त व्यवहारों की उपपत्ति हो जाती है। इसी कारण ज्ञान की परिभाषा दी जाती है कि 'सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम्' (समस्त व्यवहारों का कारण जो गुण है, वही है ज्ञान)।[23] इसके अनन्तर हमें सामान्यतया प्रमाणसिद्धि के लिए प्रमाणान्तर की अपेक्षा होती ही नहीं है। अनुव्यवसाय के लिए क्या प्रमाण है? इस प्रकार प्रमाण की अपेक्षा न होने पर भी व्यवहार सम्पन्न हो जाते हैं। व्यवहारानुपपत्ति को प्रदर्शित करने वाली अनवस्था ही दोष का आरोप कर पाने में सक्षम होती है, जिस अनवस्था के द्वारा व्यवहार का विरोध नहीं किया जाता है, व्यवहार में अनुपपत्ति को प्रदर्शित नहीं करती है, वह अनवस्था दोषवह नहीं होती है।

न्याय व बौद्ध परम्परा के सिद्धान्तों में भेद को वस्तुतः इन दोनों परम्पराओं के द्वारा व्यवहार को प्राधान्य व अप्राधान्य देने के आधार पर ही व्यवस्थापित किया जाना उचित दिखता है। न्याय व बौद्धपरम्परा के सिद्धान्तों में भेद के मूल में उनके द्वारा स्वीकृत तत्त्वमीमांसा के प्रति उनके प्रमाणविहीन आग्रह को प्रस्तुत करना अनुचित व परम्पराविरोधी है। यह ध्यान देना चाहिए कि न्यायपरम्परा व्यवहार व परमार्थ का भेद नहीं करती जबकि बौद्धपरम्परा में यह भेद अत्यन्त मुखर है। व्यवहार व परमार्थ का भेद कर अबाधित लोकानुभव को भी भ्रान्त मानने का पक्ष बौद्धपरम्परा रखती है, जो न्यायपरम्परा को स्वीकार्य नहीं है।

इसके अतिरिक्त गोतम व वात्स्यायन नागार्जुन पर यह प्रश्न उठाते हैं कि जब आप प्रमाण ही नहीं मानते हैं, प्रमाणों का ही प्रतिषेध कर रहे हैं तो किस प्रकार से प्रतिषेध भी कर पाना आपके लिए सम्भव हो सकेगा? प्रमाण को न स्वीकार करने के कारण प्रतिषेध भी तो अनुपपन्न होगा! आखिर आप भी तो परपक्षप्रतिषेधार्थ अनुमान का ही प्रदर्शन करते हैं। वस्तुतः जब नागार्जुन प्रमाणों का प्रतिषेध कर रहे होते हैं तो वे जाने-अनजाने प्रमाण का ही प्रयोग कर रहे होते हैं, तथा—'प्रमाणप्रमेयानि स्वतोऽसिद्धानिमिथोऽभिसम्प्लुतत्वात्'[24] तो यह अनुमान का ही प्रयोग है। यहाँ पर प्रमाण व प्रमेय को पक्ष बनाकर स्वतोऽसिद्धत्व को सिद्ध करने का प्रयास किया जा रहा है, तथा हेतु के रूप में प्रस्तावित है मिथोऽभिसम्प्लुतत्व। यहाँ पक्ष, साध्य, हेतुप्रदर्शनपूर्वक अनुमान ही प्रदर्शित हो रहा है। शून्यत्वसिद्धि के लिए जब नागार्जुन कहते हैं कि–'शून्यत्वं सिद्धं भावानां निःस्वभावत्वात्'[25] तो यहाँ पर भी अनुमान का ही प्रदर्शन वे कर रहे होते हैं। इन अनुमानों के द्वारा क्रमशः स्वतोऽसिद्धत्व व शून्यत्व का साधन ही अपेक्षित है। इस कारण इनका प्रामाण्य स्वीकार करना आवश्यक दिखता है। यदि इनका प्रामाण्य स्वीकार कर लिया गया तो निश्चय ही समस्त प्रमाण असिद्ध नहीं हो सकते हैं। यहाँ पर वात्स्यायन विकल्पपूर्वक प्रश्न उठाते हैं कि इस प्रकार के प्रतिषेध के द्वारा आप (नागार्जुन) क्या करना चाहते हैं, क्या सम्भव की निवृत्ति करना चाहते हैं अथवा असम्भव ज्ञापित करना चाहते हैं? (सम्भव का तात्पर्य उससे है जो किसी प्रमाण से ज्ञात हो चुका है) यदि सम्भव की निवृत्ति करना चाहते हैं तो प्रत्यक्षादि के प्रतिषेध की अनुपपत्ति होगी, क्योंकि जो सम्भव है, जो किसी प्रमाण से ज्ञात हो चुका है, उसकी निवृत्ति किस प्रकार से सम्भव होगी? इस कारण प्रतिषेध असम्भव है। अगर असम्भव ज्ञापित करना चाहते हैं, अर्थात् किसी प्रमाण के द्वारा ज्ञात नहीं हुआ है, ऐसा बताना चाह रहे हैं तो आपके द्वारा किया जाने वाला यह प्रतिषेध ही प्रमाणलक्षण को प्राप्त हो जा रहा है, क्योंकि प्रमाण के द्वारा भी तो यही किया जाता है! प्रमाण अज्ञातार्थज्ञापक होता है, यह तो सर्वविदित है। इस प्रकार प्रमाणासम्भवात्मक प्रमेय की उपलब्धि का कारण यह प्रतिषेध हो रहा है, इस कारण यह प्रतिषेध ही प्रमाण बन जायेगा।[26] इस

कारण प्रमाणसामान्य का प्रतिषेध सम्भव नहीं है। वात्स्यायन के द्वारा उपस्थापित प्रश्न न केवल बौद्धपरम्परा पर लागू होते हैं अपितु अद्वैतवेदान्त के ऊपर भी लागू होते हैं। गोतम व वात्स्यायन के आरोपों से बचने का प्रयास नागार्जुन इस प्रकार से करते हैं कि हमारी कोई प्रतिज्ञा ही नहीं है। यदि हमारी कोई प्रतिज्ञा होती तो यह दोष हो सकता था, चूँकि हमारी कोई प्रतिज्ञा ही नहीं है इस कारण यह दोष हमारे ऊपर लगता ही नहीं है।

तीसरे व चौथे क्रम पर जो प्रश्न उठाये गये हैं उनमें वस्तुत: कोई स्वारस्य नहीं है, क्योंकि प्रमाणों व प्रमेयों की परस्पर सापेक्षता होने पर भी प्रमाणों के लिए प्रमेय की अपेक्षा मात्र इस कारण है कि प्रमेय की उपलब्धि कराकर ही वह प्रमाण इस संज्ञा को प्राप्त करता है। स्वयं नागार्जुन द्वारा उपस्थापित तर्क को ही उनके विपक्ष के बतौर उपस्थापित किया जा सकता है। **विग्रहव्यावर्तनी** में प्रमाण व प्रमेय दोनों को ही इस सामान्य तर्क के द्वारा कटघरे में खड़ा करने का प्रयास नागार्जुन ने किया है कि जो पूर्वसिद्ध है उससे ही परभावी की सिद्धि की बात कही जा सकती है, जैसे पिता व पुत्र। पिता पूर्वसिद्ध होकर ही पुत्र का जनक होता है। परन्तु प्रमाण के बारे में यह बात नहीं कही जा सकती है। यहाँ पर तो दोनों ही पिता व पुत्र के लक्षण को धारण करेन वाले हैं।[27] परन्तु इस उदाहरण को भी इसी आलोक में देखा जा सकता है कि जब तक पुत्र उत्पन्न नहीं होता है तब तक किसी व्यक्ति को पिता के रूप में नहीं जाना जाता है। पुत्रोत्पत्ति होने के उपरान्त ही उसे पिता कहा जाता है। तो पिता के रूप में तो वह भी अपनी सिद्धि के लिए पुत्र पर निर्भर है। इसलिए पिता व पुत्र इस व्यवहार की भी उपपत्ति सम्भव नहीं दिखती है। दूसरी बात यह है कि पिता पुत्र का उत्पादक है, परन्तु प्रमाण प्रमेय का उत्पादक नहीं होता। इस कारण यह आपत्ति सङ्गत नहीं है।

न्यायदर्शन के अनुसार प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण तीनों ही प्रमा के प्रति कारण होते हैं। हालाँकि प्रत्यक्षस्थल में ही यह पूरी तौर पर सङ्गत होता है, प्रत्यक्षातिरिक्त स्थल में तो प्रमेय के न रहने पर भी प्रमा उत्पन्न होती है। परन्तु प्रमा के समस्त प्रमाणों का आधार होने के कारण उसको ही आदर्श बना कर समस्त प्रमाणों की व्याख्या की जाती है। विषय के न रहने पर किस प्रकार प्रत्यक्षात्मिका प्रमा उत्पन्न होगी? इस कारण प्रमा के प्रति विषय, यानी प्रमेय की भी कारणता है। प्रमाता व प्रमाण की प्रमासाधनता तो सुस्पष्ट है। प्रमाता को ज्ञान जब तक नहीं होता तभी तक प्रमाणव्यापार की आवश्यकता होती है। इस प्रकार वस्तुत: प्रमा के पूर्व प्रमाता, प्रमेय व प्रमाण तीनों ही सिद्ध रहते हैं, विद्यमान रहते हैं। परन्तु प्रमाणव्यापार के उपरान्त ज्ञान की उत्पत्ति हो जाने के बाद उपाधिवश ये संज्ञाएँ हो जाती हैं। परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि प्रमा की उत्पत्ति के पूर्व प्रमाता, प्रमेय व प्रमाण की क्रमश: प्रमातृत्वेन, प्रमेयत्वेन व प्रमाणत्वेन सिद्धि या उपलब्धि नहीं हुई रहती है। प्रमाण के पूर्व अगर प्रमाण उपलब्ध भी है तो वह प्रमाणत्वेन उपलब्ध नहीं होता है, किसी अन्य रूप में ही उपलब्ध रहता

है। इस प्रकार प्रमाण व प्रमेय की परस्पर सम्मिश्रितता होने पर भी प्रमाणों के अधीन ही प्रमेय की सिद्धि नहीं हो सकती है, प्रमाण व प्रमेय की सिद्धि परस्परापेक्ष ही हो सकती है। परस्परापेक्षसिद्धि का आशय यह होगा कि न तो प्रमाण की और न प्रमेय की सिद्धि हो रही है। नागार्जुन का पक्ष सिर्फ यह नहीं है कि प्रमाणों के अधीन प्रमेय की सिद्धि नहीं हो सकती, किन्तु यह है कि न तो प्रमाण की सिद्धि (तात्त्विक रूप से) हो सकती है और न प्रमेय की। इसी कारण चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि "यदि हमारा कोई निश्चय होता तो उसके प्रमाण या अप्रमाण पर आधारित होने का प्रश्न उठता। हमारा कोई निश्चय तो है ही नहीं।"[28] इस कारण नागार्जुन की आलोचना केवल प्रमाणाधारित प्रमेयसिद्धि की आलोचना नहीं है, अपितु प्रमेयाधारित प्रमाणसिद्धि की भी आलोचना है, तथा प्रमाणाधारित प्रमेयसिद्धि व प्रमेयाधारित प्रमाणसिद्धि दोनों पर समान है।

(2)

नागार्जुन की ही वैतण्डिक परम्परा में एक सुप्रसिद्ध नाम है श्रीहर्ष का। तीन वैतण्डिक सुप्रसिद्ध हैं—नागार्जुन, श्रीहर्ष तथा **तत्त्वोपप्लवसिंह** के लेखक जयराशि भट्ट। तीनों की ही प्रवृत्ति परमतनिराकरणार्थ हुई है। तीनों ही न तो प्रमाण की सिद्धि स्वीकार करते हैं और न ही प्रमेय की। **खण्डनखण्डखाद्य** के प्रारम्भ में श्रीहर्ष इस प्रश्न को उठाते हैं कि 'प्रमाणादि सर्वतन्त्रस्वतन्त्र सिद्धान्त हैं' क्या यह स्वीकार करना हर वादी-प्रतिवादी के लिए आवश्यक है? इसमें चार विकल्प श्रीहर्ष उठाते हैं : (1) क्या प्रमाणादि की सत्ता को स्वीकार किये बिना वाग्व्यवहार सम्भव नहीं है? (2) क्या वादी-प्रतिवादी के द्वारा वाग्व्यवहार करने के लिए प्रमाणादि की सत्ता का अभ्युपगम आवश्यक है? (3) क्या लोकसिद्ध होने के कारण प्रमाणादि की सत्ता का अभ्युपगम आवश्यक है? या (4) बिना प्रमाणादि की सत्ता को स्वीकार किये तत्त्वनिर्णय और विजय नहीं प्राप्त किये जा सकते?

प्रथम विकल्प को खण्डित करते हुए श्रीहर्ष व्यङ्ग्य पूर्वक कहते हैं कि आपका यह कथन 'प्रमाणों के सत्त्व को स्वीकार न करने पर वाग्व्यवहार सम्भव नहीं है' तो वाणी को स्तम्भित कर देने वाले अद्‌भुत किस्म के मन्त्रप्रयोग के समान है, निश्चय ही इसी मन्त्रप्रयोग से सम्मोहित होने के कारण देवताओं के गुरु बृहस्पति के द्वारा लोकायतिक सूत्रों का प्रणयन न किया जा सका, तथागत के द्वारा मध्यमक आगम का प्रवर्तन न किया जा सका, तथा भगवत्पाद शङ्कर के द्वारा बादरायण सूत्रों पर भाष्य न लिखा जा सका।[29] चार्वाक दर्शन के प्रणेता देवताओं के गुरु बृहस्पति हैं, यह प्रसिद्ध है। चार्वाकमत में प्रत्यक्ष का प्रामाण्य स्वीकार किया गया है, परन्तु परमार्थतः विचार करने पर तो प्रत्यक्ष का प्रामाण्य भी अस्वीकार्य ही ठहरता है, इसी कारण जयराशिभट्ट ने **तत्त्वोपपप्लवसिंह** में अन्य प्रमाणों के साथ-साथ प्रत्यक्ष का भी खण्डन किया है। चार्वाक दर्शन के प्रणेता बृहस्पति, तथागत व आचार्य शङ्कर ये तीनों ही प्रमाणादि की

पारमार्थिक सत्ता का अङ्गीकार नहीं करते। द्वितीय विकल्प 'वादी-प्रतिवादी के द्वारा वाग्व्यवहार करने के लिए प्रमाणादि की सत्ता का अभ्युपगम आवश्यक है' का खण्डन करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि यह भी उचित नहीं है, क्योंकि वादी-प्रतिवादी के वाग्व्यवहार के लिए प्रमाणादि सत्ता के अभ्युपगम की आवश्यकता नहीं है। प्रमाणादि का प्रयोग करना आवश्यक है, प्रमाणादि की सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है।[30] यहाँ पर श्रीहर्ष प्रमाणों को व्यावहारिक तौर पर ही स्वीकार करने का पक्ष रखते हैं। तृतीय विकल्प 'लोकसिद्ध होने के कारण प्रमाणादि की सत्ता का अभ्युपगम आवश्यक है' को स्वीकार करने पर प्रश्न यह होगा कि लोकव्यवहार का तात्पर्य किससे है? प्रामाणिकों के व्यवहार से या मूर्खजनसाधारण व्यवहार से? यदि लोकव्यवहार का तात्पर्य प्रामाणिकों के व्यवहार से है तो वह तो बिना परीक्षा के, बिना विचारप्रवृत्ति के निर्धारित हो ही नहीं सकता। जब तक विचार नहीं होगा, तब तक प्रमाणादि हैं कि नहीं यह निर्धारण सम्भव नहीं है। जब तक प्रमाणादि का सत्त्व नहीं होगा, तब तक विचारप्रवृत्ति सम्भव नहीं है। इस प्रकार अन्योन्याश्रय होगा।[31] यदि लोकव्यवहार का तात्पर्य मूर्खजनसाधारण व्यवहार से है तब तो शरीर के आत्मत्व की सिद्धि भी हो जायेगी। मूर्खजनसाधारण व्यवहार तो शरीर को आत्मा मानकर ही होता है। अगर आप बोलो कि विचार से बाधित होने के कारण बाद में शरीर का आत्मत्व नहीं स्वीकार किया जाता है, तो वही बात तो प्रमाणादि पर लागू होनी चाहिए। यदि वे विचार से बाधित होंगे तो नहीं स्वीकार किये जायेंगे, अन्यथा स्वीकार किये जायेंगे, यही मानना उचित होगा।[32] चतुर्थ विकल्प 'बिना प्रमाणादि की सत्ता को स्वीकार किये, तत्त्वनिर्णय व विजय नहीं प्राप्त किये जा सकते' भी ठीक नहीं है, क्योंकि वादी या प्रतिवादी का प्रमाणादि की सत्ता को स्वीकार करना या न करना तत्त्वनिर्णय या विजय प्राप्ति के लिए उपयोगी नहीं होता, अपितु उनका सम्यक् प्रयोग उपयोगी होता है। यदि कोई प्रमाणादि की पारमार्थिक सत्ता को स्वीकार नहीं करता, परन्तु उनका सम्यक् प्रयोग करता है, तो वह तत्त्वनिर्णय व विजय प्राप्त कर लेता है।[33] तथा यदि कोई प्रमाणादि की पारमार्थिक सत्ता को स्वीकार करता है, परन्तु उनका सम्यक् प्रयोग नहीं करता, तो वह तत्त्वनिर्णय या विजय नहीं प्राप्त कर सकता है। इस कारण तत्त्वनिर्णय व विजय प्राप्ति के लिए प्रमाणादि की पारमार्थिक सत्ता का अङ्गीकार अनावश्यक है।

प्रमाणादि के न रहने पर व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकेगा, ऐसा बार-बार कहा जाता है। कारण यह है कि समस्त विधि-निषेध प्रमाणाधीन होते हैं। इस पर श्रीहर्ष का कथन है कि हम यह नहीं कहते हैं कि प्रमाण नहीं हैं यह निश्चित करके विचार किया जाये। न तो हम यही कहते हैं कि प्रमाण हैं यह निश्चित करके विचार किया जाये। किन्तु प्रमाण हैं या नहीं इस चिन्ता से उदासीन होकर विचार किया जाये। हाँ, यह अवश्य है कि आप प्रमाणों की सत्ता को स्वीकार करके प्रमाणों का जिस प्रकार व्यवहार करते हैं उसी प्रकार

से प्रमाण का व्यवहार करते हुए विचार करना चाहिए। यह नहीं है कि इसी प्रकार प्रमाणादि की सत्ता भी दोनों को स्वीकार करनी चाहिए, क्योंकि ''उसी प्रकार से प्रमाणादि का व्यवहार करना है'' इस नियम मात्र से विचार की प्रवृत्ति उपपन्न हो जाती है।[34] इस प्रकरण पर विचार को समाप्त करते हुए निष्कर्ष के रूप में श्रीहर्ष कहते हैं कि व्यावहारिक प्रमाणादि की सत्ता को स्वीकार कर विचार का आरम्भ करना चाहिए।[35] प्रमाणादि की सत्ता को प्रथमतया न स्वीकार कर विचार का आरम्भ नहीं किया जा सकता है।

**तत्त्वोपप्लवसिंह** के लेखक जयराशि भट्ट भी प्रमाणप्रमेयव्यवस्था को स्वीकार नहीं करते हैं, परन्तु 'मानाधीना मेयसिद्धिः' का सीधा-सीधा खण्डन जयराशि भट्ट भी नहीं करते। किन्तु वे यह कहते हैं कि सल्लक्षण पर मानव्यवस्था आधारित है तथा प्रमेय की व्यवस्थिति प्रमाण पर आधारित है। अगर प्रमाण का लक्षण ही नहीं किया जा सकता है तो प्रमाण सिद्धि नहीं हो सकेगी, तथा इस कारण प्रमेय भी सिद्ध नहीं हो सकेगा।[36] जयराशि भट्ट अपने ग्रन्थ में प्रमाणों का ही प्रधान रूप से खण्डन करते हैं।

श्रीहर्ष के अनुगामी चित्सुखाचार्य भी प्रमाणाधारित प्रमेयव्यवस्था का खण्डन यही कहकर करते हैं कि ''प्रमाणों के अधीन प्रमेयसिद्धि होती है, तथा प्रमाणों की सिद्धि लक्षणों के अधीन, परन्तु लक्षण दुर्निरूप्य हैं, इस कारण अन्ततः न तो प्रमाण की सिद्धि हो सकती है, न प्रमेय की सिद्धि।''[37] ध्यातव्य है कि ये समस्त दार्शनिक 'प्रमाण के द्वारा प्रमेय की सिद्धि होती है' इस पर प्रश्न नहीं खड़ा करते हैं, अपितु वे इस पर प्रश्न उठाते हैं कि प्रमाणों की सिद्धि किस प्रकार से होगी?

अगर प्रमाणों के अधीन प्रमेयों की सिद्धि को न स्वीकार किया जाये तो न्यायपरम्परा का जिस रीति से विकास हुआ है न तो उसके लिए कोई अवकाश शेष रहता है और न ही नागार्जुनोत्तर बौद्धपरम्परा का विकास जिस क्रम से हुआ है उसके लिए ही कोई अवकाश बचता है। नागार्जुन की आलोचना के परिप्रेक्ष्य में न्यायपरम्परा द्वारा उद्भावित 'मानाधीना मेयसिद्धिः' का सिद्धान्त जिस तरह दोषयुक्त दिखता है, उससे कम दोषयुक्त 'मेयाधीना मानसिद्धिः' का सिद्धान्त भी नहीं दिखता। जब धर्मकीर्ति कहते हैं कि 'मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात्' तो इसकी व्याख्या मेयाधारित मानसिद्धि के रूप में नहीं की जानी चाहिए, जैसा मैं पीछे तर्कों के द्वारा प्रतिपादित कर चुका हूँ। यदि मानसिद्धि मेयाधारित हो तो मेयसिद्धि किस प्रकार होगी? क्या वह बिना किसी आधार के ही होगी? यदि ऐसा है, तब सौत्रान्तिक पक्ष से विज्ञानवाद की ओर धर्मकीर्ति का पथपरिवर्तन किस प्रकार से सम्भव होगा? मानाधीन मेयसिद्धि मानकर चलने पर ही अपने पक्ष को बाद में छोड़ा या बदला जा सकता है, अन्यथा नहीं। धर्मकीर्ति के उक्त कथन की व्याख्या इस रूप में ही करनी चाहिए कि चूँकि प्रमाणसिद्ध विषय दो ही प्रकार के हैं इस कारण प्रमाण भी दो ही होंगे। इस प्रकार हम पाते हैं कि एक प्रवृत्ति

प्रमाणाधारित प्रमेयव्यवस्था को स्वीकार करती हुई चल रही है तथा दूसरी प्रवृत्ति किसी भी तरह की प्रमाणप्रमेयव्यवस्था को न स्वीकारने का दावा करती है। परन्तु इससे अतिरिक्त किसी तीसरी प्रवृत्ति को हम नहीं पाते हैं, जो प्रमेयाधारित प्रमाणव्यवस्था का उपस्थापन कर रही हो। न तो इस तरह की किसी प्रवृत्ति के विद्यमान होने का कोई शास्त्रीय आधार है, तथा न यह अवधारणा किसी भी तरह से किसी भी दार्शनिक परम्परा के उद्भव व विकास की ही समुचित व्याख्या कर पाती है। जिस बौद्धपरम्परा के द्वारा 'मेयाधीना मानसिद्धि:' सिद्धान्त के स्वीकृत होने की बात की जाती है उसमें अनेक ग्रन्थ प्रमाणविषयक विवेचन पर ही आधारित हैं, जैसे **प्रमाणवार्तिक, न्यायबिन्दुप्रकरण, न्यायप्रवेश**। इनमें प्रमाणों के स्वरूप के विवेचन की ही प्रधानता है। इस पर भी यह मानना कि ये दर्शन प्रथमत: ही तत्त्वमीमांसीय अभ्युपगम को लेकर चल रहे हैं, दुस्साहस ही दिखता है। वस्तुत: ज्ञानमीमांसा व तत्त्वमीमांसा का विभाग मानने पर प्रमाणमीमांसा का प्राधान्य हमारे सामान्य लोकानुभव व शास्त्रीय व्यवहारों के परिप्रेक्ष्य में अवश्य स्वीकार्य सा दिखता है। इस प्रकार 'मानाधीना मेयसिद्धि:' का सिद्धान्त वस्तुत: सर्वतन्त्रस्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में ही मान्य होना चाहिए।

**(3)**

'मानाधीना मेयसिद्धि:' के सिद्धान्त को स्र्वतन्त्रस्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करने पर विचारणीय प्रश्न यह है कि यदि समस्त दर्शनसम्प्रदाय 'मानाधीना मेयसिद्धि:' को ही स्वीकार कर चलते हैं तो क्या कारण है कि उन समस्त दर्शनों में प्रमाण की संख्या, लक्षण, विषय व फलविषयक भिन्नता दिखायी देती है? न्यायदर्शन को यह कैसे प्राप्त हो जाता है कि प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान व शब्द ये चार ही हैं? या प्रत्यक्ष के द्वारा भिन्न-भिन्न दर्शनों में भिन्न-भिन्न चीज़ें किस प्रकार दिखायी देती हैं? 'मेयाधीना मानसिद्धि:' के अभिप्राय को ऊपर आलोचित द्विविध विवेचन से भिन्न इसी प्रकार से प्रतिपादित करने का प्रयास किया जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि "प्रमाण स्वयं उसी प्रकार की तत्त्वमीमांसा के द्वारा सत्यापित होते हैं जिस पर वे आधारित होते हैं।"[38] आशय यह है कि हम जैसी तत्त्वमीमांसा स्वीकार करते हैं उसी के अनुसार हम अपनी प्रमाणमीमांसा को भी बना लेते हैं। अन्यथा क्या कारण है कि भिन्न-भिन्न दर्शनप्रस्थानों की न तो प्रमाणों की सङ्ख्या, न विषय, न लक्षण और न उनके फल के विषय में सहमति है?[39] प्रत्यक्ष के द्वारा हम वही देखते हैं, जो देखना चाहते हैं। विभिन्न दर्शनप्रस्थानों में प्रत्यक्ष के विषय भिन्न-भिन्न क्यों होते हैं, बौद्ध प्रत्यक्ष के द्वारा स्वलक्षण, नैयायिक जातिविशिष्ट व्यक्ति, अद्वैती महासामान्य सन्मात्र का दर्शन किस कारण करते हैं? यही बात सभी प्रमाणों के ऊपर लागू होती है। ऐसी स्थिति में क्या 'मेयाधीना मानसिद्धि:' सिद्धान्त के ही स्वीकृत होने की बात करते हैं।[40] उनके अनुसार वस्तुत: प्रमाण कुछ भी सत्यापित नहीं करते हैं, बल्कि जो हम पहले से

ही स्वीकार कर चुके हैं केवल उसे सत्यापित करने का दिखावा करते हैं। इस प्रकार सिद्धान्ततः यह बात सामने आती है कि वस्तुतः प्रमाणों के द्वारा कोई नई जानकारी, ज्ञान का कोई नवीन अंश उपलब्ध नहीं कराया जाता है। जो कुछ प्रमेय है वह हमें स्वयं ही उपायान्तर से प्राप्त हो चुका है,[41] उसे चाहे हम प्रतिभा कहें, या और कुछ। परन्तु प्रो. चटर्जी का मत किसी भी तरह से किसी आचार्य के द्वारा न तो सहमति प्राप्त करता है और न ही इसको स्वीकारने का कोई युक्तिसङ्गत आधार दिखता है। वस्तुतः तो प्रो. चटर्जी दार्शनिक आचार्यों की ईमानदारी पर सवाल खड़ा करते दिखते हैं क्योंकि परम्परा प्रमाण को अज्ञातार्थज्ञापक मानती है, और वे सिद्धान्ततः दावा यह करते हैं कि प्रमाण के द्वारा ज्ञान का कोई नवीन अंश उपलब्ध ही नहीं कराया जाता है। यह उपस्थापन किसी भी तरह से बोधगम्य नहीं दिखता है कि समस्त प्रमेय किसी रहस्यमय प्रक्रियान्तर से प्राप्त हो चुके हैं व शास्त्रकार उसको प्रमाण से अधिगत होने का दिखावा मात्र कर रहे हैं।

एक दूसरी समस्या पर विचार करना भी आवश्यक है। क्या कोई दार्शनिक विश्लेषण बिना किसी प्रमाणवाद को स्वीकार कर सकता है? क्योंकि 'मानाधीना मेयसिद्धिः' के सिद्धान्त को सर्वतन्त्रस्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करने पर यह मानना अनिवार्य होगा कि कोई भी दार्शनिक विश्लेषण बिना किसी प्रमाणवाद को स्वीकार करे, यह सम्भव नहीं है। प्रो. अशोक कुमार चटर्जी यह दावा करते हैं कि "कुछ एक स्थलों पर हमें ऐसे विशुद्ध विश्लेषण की सम्भावना स्वीकार करनी पड़ेगी जो किसी प्रमाणवाद पर आधारित नहीं होता है।"[42] मुझे लगता है कि विशुद्ध विश्लेषण नाम की कोई चीज़ होती नहीं है जो किसी भी प्रमाण पर आधारित न हो, हालाँकि प्रमाणवाद पर अनाधारित विशुद्ध विश्लेषण हो सकता है। प्रमाण पर आधारित व प्रमाणवाद पर आधारित इन दोनों बातों में पर्याप्त अन्तर है। प्रमाणविषयक विवेचन भी प्रमाण पर आधारित होता है परन्तु किसी प्रमाणवाद पर आधारित नहीं होता। प्रमाणविषयक विवेचन में भी प्रधानतः अनुमान का ही प्रयोग किया जाता है। नागार्जुन की प्रसङ्गापादन की जो पद्धति रही है वह भी प्रमाण पर ही आधारित है क्योंकि वह भी अनुमान का ही आकार ग्रहण कर लेती है। परन्तु वह प्रमाणवाद पर आधारित नहीं है, क्योंकि किसी प्रमाण को परमार्थतः स्वीकार नहीं करती है। इसी प्रकार अद्वैत की प्रवृत्ति को भी समझना चाहिए। 'मानाधीना मेयसिद्धिः' के सिद्धान्त को सर्वतन्त्रस्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करने पर भी यह मानने की आवश्यकता नहीं है कि कोई भी दार्शनिक विश्लेषण बिना किसी प्रमाणवाद को स्वीकार किये सम्भव नहीं है। इससे यही निगमित होता है कि कोई भी दार्शनिक विश्लेषण बिना किसी प्रमाण का प्रयोग किये सम्भव नहीं है। इसी निष्कर्ष की ओर श्रीहर्ष ने भी अपना सङ्केत किया है। प्रमाण पर आधारित प्रत्येक विवेचन प्रमाणवाद पर आधारित विवेचन नहीं होता है। "बिना किसी

प्रमाणवाद को स्वीकार किये भी प्रमाणाधारित विवेचन किया जा सकता है'' इसी ओर नागार्जुन, श्रीहर्ष व जयराशिभट्ट सङ्केत कर रहे हैं। प्रमाणवाद का तात्पर्य प्रमाण के विषय, सङ्ख्या, लक्षण व फल को निर्धारित करने से है। परन्तु एतद्विषयक विवेचन भी प्रमाणाधारित विवेचन ही है, प्रमाण पर अनाधारित विशुद्ध विवेचन नाम की कोई चीज नहीं है। उसी प्रमाणाधारित प्रमाणविषयक विवेचन के मार्ग से चलते हुए अद्वैती, शून्यवादी व विज्ञानवादी उस मोड़ पर पहुँच जाते हैं जहाँ से परमार्थत: प्रमाण-प्रमेय आदि का द्वैत तिरोहित होने का आभास दे देता है। परमार्थत: किसी प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। इसी कारण आचार्य शङ्कर श्रुतिसहित समस्त प्रमाणों को अविद्यावद्विषयक मानने व उनका मिथ्यात्व स्वीकार करने में हिचकिचाते नहीं हैं।[43] परमतत्त्व तो प्रमाणातीत है, प्रमाणप्रमेयादि समस्त विभागों से परे। वस्तुत: समस्त अद्वैतवादी दर्शनों में प्रमाण की भूमिका केवल प्रमाण की सीमा के परिसीमन के माध्यम से परमतत्त्व को जानने के लिए उपायान्तर के हवाले कर देना है। इसी कारण के.सी.भट्टाचार्य कहते हैं कि ''ब्रह्म व माया वस्तुत: आस्था में स्वीकार किये जाते हैं व विचार के माध्यम से उनको व्याख्यायित किया जाता है।''[44] परन्तु आस्था में स्वीकार किये जाने पर भी यह धर्म (रिलीज़न) से इसी कारण भिन्न है क्योंकि प्रमाण व तर्क की सीमा का अवलोकन करने के उपरान्त ही यह आस्था की शरण ग्रहण करता है। धर्म आस्था से ही प्रारम्भ होता है तथा आस्था में ही विश्रान्ति लेता है। इसके विपरीत दर्शन आस्था से आरम्भ नहीं होता किन्तु आस्था में विश्रान्ति अवश्य ले सकता है। प्रमाण व तर्क की सीमारेखा निर्धारित हो जाने के उपरान्त परमतत्त्व तक जिस प्रक्रिया से पहुँचना सम्भव होता है उस प्रक्रिया का प्राधान्य लेकर प्रमाणों की प्रवृत्ति होती है तथा प्रमाण उससे निरपेक्ष नहीं रह पाते। द्वैतवादी दर्शनों में तो प्रमाण के द्वारा ही प्रमेयसिद्धि होती है, प्रमाण की सीमारेखा के अन्तर्गत ही समस्त प्रमेय आते हैं।

वस्तुत: दार्शनिक चिन्तन प्रमाणविषयक या ज्ञानविषयक चिन्तन को ही प्रमुख आधार प्रदान कर प्रारम्भ होता है। यदि कोई दार्शनिक परम्परा ऐसा नहीं करती है तो वह अपने डॉग्मैटिक होने का ही उद्घोष करती है। इस कारण उसको दार्शनिक परम्परा कहलाने का कोई हक नहीं रह जाता। दर्शन युक्ति व प्रमाणनिष्ठ चिन्तन को महत्त्व देता है, चाहे वह पाश्चात्य परम्परा हो या भारतीय। प्रमाणचिन्तन से प्रारम्भ होने वाले दर्शन में प्रथमतया प्रमाण के द्वारा प्रमाण की ही परीक्षा होती है। परीक्षा का मुख्य उपकरण बनने वाला प्रमाण पारमार्थिक प्रमाण है या व्यावहारिक मात्र, यह दूसरी बात है, तथा इसका निर्धारण भी बाद में ही हो पाता है। प्रमाणवार्तिक आदि ग्रन्थ भी प्रथमत: प्रमाणस्वरूप के निर्धारण के लिए इसी कारण प्रवृत्त होते हैं। प्रमाणों के स्वरूपनिर्धारण में ही हर एक दर्शन की समीक्षात्मकता अभिव्यक्त होती है, तथा वह प्रमाणमीमांसा ही उस दर्शन की तत्त्वमीमांसा को प्रतिबिम्बित कर करती है। उसीमें मौलिक रूप से उस

दार्शनिक सम्प्रदाय के अस्फुट विभेद का आधार विद्यमान रहता है। परन्तु इस आधार पर यह मानना अनुचित होगा कि वह तत्त्वमीमांसा प्रमाणों के स्वरूपनिर्धारण के पूर्व ही उस दर्शन के द्वारा स्वीकार कर ली गयी थी। बौद्ध क्षणिकता को स्वीकार करते हैं, इस कारण स्वलक्षणमात्रग्राही प्रत्यक्ष को ही वास्तविक प्रमाणपद पर अभिषिक्त करते हों, ऐसा नहीं है। किन्तु वे प्रमाणविषयक सम्परीक्षा में विकल्परहित प्रत्यक्ष को ही प्रमाण के रूप में निर्धारित कर पाते हैं, इस कारण वस्तुओं की क्षणिकता का निर्धारण करते हैं, तथा उससे भी आगे बढ़ते हुए बाह्य वस्तु की सत्ता का निषेध कर देते हैं। इसी प्रकार नैयायिक प्रमाणविषयक सम्परीक्षा में विकल्परहित प्रत्यक्ष के समान सविकल्पक को भी प्रमाण के रूप में स्वीकार करना आवश्यक पाते हैं। इस कारण उनके लिए वस्तुओं की क्षणिकता बौद्धमत के समान स्वीकार कर पाना सम्भव नहीं होता। इसी प्रकार हर एक दर्शन के बारे में भी समझना चाहिए। इसी कारण भारतीय दर्शन–परम्परा में भ्रम का विवेचन अत्यन्त विस्तार के साथ प्रायः समस्त दार्शनिक सम्प्रदायों में किया जाता है। दर्शनों के भ्रमविषयक सिद्धान्तों को देखकर ही उन उन दर्शनों की तत्त्वमीमांसा को प्रायः सुस्पष्ट रीति से समझा जा सकता है। किन्तु दो दार्शनिक परम्पराओं के द्वारा किसी एक प्रमाण को स्वीकार करने का तात्पर्य कतई यह नहीं होता कि उन दोनों दार्शनिकों के द्वारा एक समान सिद्धान्त भी स्वीकार किये जायेंगे, क्योंकि प्रमाणों के प्रधान–गौणभाव से भी उन उन दर्शनों की तत्त्वमीमांसा भिन्न हो सकती है। समस्त वेदान्तपरम्पराओं के द्वारा समान रूप से शास्त्रप्रामाण्य का अङ्गीकार करने पर भी उनकी तत्त्वमीमांसाएं भिन्न–भिन्न हैं, यह सर्वविदित है।

लोकानुभव से प्रारम्भ होती हुई दर्शनविषयक विवेचना लोकानुभव का सर्वथा तिरस्कार न तो करती है, न कर सकती है। वस्तुतः समस्त दर्शनों का मूलाधार आपामरसाधारण लोकानुभव ही होता है। लोकानुभव के अवलोकनों के आधार पर ही प्रमाणों का निर्धारण भी किया जाता है। इसी कारण श्रीहर्ष जैसा वैतण्डिक भी प्रमाणों की सत्ता पारमार्थिक है या व्यावहारिक यह विचार किये बिना, प्रमाणों का प्रयोग कर स्वपक्षस्थापन व परपक्षखण्डन किया जा सकता है, यह स्वीकार करता है। यह सम्भव नहीं है कि प्रमाणप्रयोग किया ही न जाये और स्वपक्षसाधन व परपक्षखण्डन सम्भव हो। इस प्रकार प्रमाणों के दो उपयोग हैं–स्वपक्षस्थापन तथा परपक्षखण्डन। इसमें परपक्षखण्डनार्थ प्रमाणों का उपयोग समस्त दार्शनिक परम्पराओं के लिए अनिवार्यतया है। परन्तु स्वपक्षस्थापन के लिए सभी के लिए प्रमाणों का उपयोग स्वीकरणीय नहीं है। जैसे माध्यमिक व श्रीहर्ष जैसे अद्वैती व जयराशिभट्ट जैसे सन्देहवादी अपना पक्ष उपस्थापित नहीं करते। परन्तु व्यवहारकाल में तो सभी के विचार प्रमाणाधारित होने पर ही मान्य होते हैं। जो दर्शन–परम्पराएँ युक्तिविरोधों को वहीं तक युक्त मानती हैं जहाँ तक वे व्यवहारविरोधी नहीं होतीं, जिस पक्ष में व्यवहार की व्याख्या अधिक संगत हो

रही हो, वहाँ युक्तिविरोध स्वीकार करने में भी उन्हें आपत्ति नहीं होती, तथा व्यवहार का विरोध करने वाली युक्ति को वे सद्युक्ति नहीं स्वीकार करते। वे दर्शनसम्प्रदाय व्यवहार पर ही रुक जाते हैं, व्यवहार व परमार्थ का भेद नहीं करते। न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनपरम्पराएं इसी श्रेणी में आती हैं। ये दर्शनपरम्पराएं मानती हैं कि युक्ति तभी अपनी सामर्थ्य खो देती है जहाँ वह व्यवहार-लेख से हट जाती है। नागार्जुन द्वारा उपस्थापित ऊपर प्रदर्शित 'यदि प्रमाण के ग्रहणार्थ प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती है तो प्रमेय के ग्रहणार्थ ही प्रमाण की अपेक्षा किस कारण होगी?' 'प्रमाणों की सिद्धि न तो प्रमेयों की सिद्धि के पूर्व ही सम्भव है, न ही बाद में और न ही समानकाल में हो सकती है' इन दोनों आशंकाओं को गोतम क्रमशः साधर्म्यसमा व अहेतुसमा जाति के अन्तर्गत परिगणित करते हैं, उसका भी कारण यही है कि ये दोनों युक्तियाँ अनुभव की जमीन से कटी हुई हैं, अतः सद्युक्तिता को खो चुकी हैं। किसी भी युक्ति को सद्युक्ति के रूप में स्थापित करने की सामर्थ्य यदि किसी में है तो वह केवल लौकिक व परीक्षक दोनों के अबाधित अनुभव में है। ये युक्तियां अनुभव द्वारा समर्थित नहीं हैं। दूसरी ओर जो दर्शनसम्प्रदाय व्यवहारविरोध के ऊपर युक्तिविरोध को अधिक महत्त्व देते हैं वे विभिन्न विरोधी बुद्धिविकल्पों में किसी एक को स्वीकृति प्रदान करने में युक्तिविरोध का अनुभव करते हुए उस युक्तिवरोध का परिहार करने के लिए विरोधी विकल्पों से परे किसी अज्ञेय या अवेद्य परमार्थ को स्वीकार कर लेते हैं, जो कि अनुभवविरुद्ध (अनुभवातीत) है। पाश्चात्य परम्परा में कांट ने यही किया। भारतीय परम्परा में भी इसी कारण विभिन्न अद्वैतवादी दर्शनों ने परमार्थ को या तो अज्ञेय कहा, या इस प्रकार से उस परमार्थ की ज्ञेयता प्रतिपादित की जिसे बमुश्किल हमारे सामान्य वाग्व्यवहार में ज्ञेय कहना उचित होगा।

तत्त्व युक्तिसम्मत ही होगा यह एक अवधारणा है तथा तत्त्व अनुभवसम्मत ही होगा यह दूसरी अवधारणा है। इसके साथ ही एक तीसरी अवधारणा होगी कि तत्त्व न तो युक्तिसम्मत है और न अनुभवसम्मत। परन्तु इन तीनों ही अवधारणाओं की प्रमाण द्वारा उपलब्ध करायी गयी अपनी कोई जमीन नहीं है जिस पर वे आधारित हों। तत्त्व युक्तिसम्मत ही होगा, यह अवधारणा लेकर चलने पर एक सुसङ्गत दर्शन सामने तब भी आ सकता है यदि एक झूठ को दूसरे, दूसरे को तीसरे, तथा तीसरे को चौथे से इसी क्रम से विभिन्न झूठों को सुसङ्गत तरीके से बुना जाये। न्यायपरम्परा इसी कारण अनुभवसङ्गति पर युक्तिसङ्गति की अपेक्षा अधिक बल देती है, क्योंकि अनुभव तो अनुभवान्तर से सत्यापित किये जा सकते हैं, परन्तु युक्ति युक्त्यन्तर से सत्यापित नहीं हो सकती, इस कारण ही शास्त्र को प्रत्यक्षप्रमाण से अनुशासित मानती है। सभी दर्शनपरम्पराओं को युक्तिसङ्गति व अनुभवसङ्गति की अपेक्षा होती है, यथासम्भव युक्तिविरोध व अनुभवविरोध से सभी दर्शनसम्प्रदाय बचना चाहते हैं, परन्तु विचारक्रम

में कुछ स्थितियाँ ऐसी आती हैं जहाँ पर इन दोनों में से किसी एक को तिलाञ्जलि देना अनिवार्य हो जाता है। प्रत्यक्ष के स्वरूप के विवेचन में न्यायपरम्परा लोकानुभव में आने वाले सविकल्पक प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष के रूप में मान्यता देने के लिए बद्धपरिकर है। इसका कारण यह नहीं है कि उन्होंने प्रथमत: ही द्रव्य, गुण आदि सात पदार्थों व उनके विभागों को स्वीकार कर लिया है। परन्तु इसका कारण यह अभ्युपगम है कि समस्त अबाधित लोकानुभव भ्रम नहीं है, लोकव्यवहार भ्रमाधारित नहीं है, या नहीं माने जाने चाहिएं। इसीलिए चन्द्रकीर्ति ने धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष-विषयक विवेचन के ऊपर न्यायपरम्परा के प्रत्यक्षविवेचन को वरियता दी है। चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि "कल्पनापोढ़ ज्ञान को ही प्रत्यक्ष स्वीकार कर रहे हो, परन्तु कल्पनापोढ़ ज्ञान से लौकिक संव्यवहार तो होते ही नहीं। लौकिक प्रमाणप्रमेयव्यवहार की व्याख्या अभीष्ट है (क्योंकि परमार्थत: तो अद्वैत अभ्युपगत होने के कारण प्रमाणप्रमेयव्यवहार सम्भव ही नहीं है) जो कि इस प्रकार सम्भव नहीं है, इस कारण प्रत्यक्षप्रमाण की सङ्कल्पना व्यर्थ ही हो जाती है।"[45] बौद्धपरम्परा इसके विपरीत तत्त्व के युक्तिसम्मत होने की अवधारणा लेकर ही चल रही है, उसके लिए अबाधित लोकानुभव का मूल्य युक्तिसङ्गति के मूल्य से कम है, इस कारण अबाधित लोकानुभव को भ्रमपूर्ण बताते हुए इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष स्वलक्षणविषयक ही होता है, इसको धर्मकीर्ति उपस्थापित करते हैं। प्रत्यक्षलक्षणविचार के अवसर पर इसको बहुत ही समुचित तरीके से धर्मकीर्ति ने व्याख्यायित किया है कि प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य होता है, विकल्प तो मनोजन्य है। इस कारण इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष के अनन्तर मन के उत्प्रेक्षणात्मक व्यापार से विकल्प जन्म लेता है तथा उसी विकल्प का अध्यवसायात्मक ज्ञान होता है। इन्द्रिजन्य प्रथम ज्ञान विकल्पविषयक नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान के विकल्पविषयक होने के लिए मनोव्यापार की आवश्यकता होती है। इसी कारण नैयायिक भी प्राथमिक ज्ञान को निर्विकल्पक मानते हैं तथा तदनन्तरभावी ज्ञान को सविकल्पक। इसलिए प्रत्यक्ष विकल्पविषयक नहीं हो सकता।[46] युक्तिसङ्गति व अनुभवसङ्गति इनमें से किसी एक के चयन को ही दर्शनपरम्पराओं के मूल अभ्युपगम के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

इसी कारण व्यावहारिक धरातल पर शून्यवादी माध्यमिकों को प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान व शब्द इन चारों प्रमाणों की सत्ता भी न्यायपरम्परा की तरह स्वीकार करने में कोई असुविधा नहीं महसूस होती।[47] परन्तु शून्यता को ही वह परमार्थ मानता है, हालाँकि शून्यता में कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं करता। क्या यह स्वीकार करना युक्तिविरुद्ध नहीं लगता है कि परमार्थ तो अनुभवगम्य है ही नहीं, तथा जो अनुभवगम्य है वह परमार्थ नहीं है? वस्तुत: प्रमाणमीमांसा के क्रम में विचार करते हुए शून्यता की अवस्था में प्रमाण व प्रमेय का कोई भेद नहीं रह जाता। प्रमाणमीमांसा, तत्त्वमीमांसा व पुरुषार्थमीमांसा में कोई भेद नहीं शेष बचता। इसी कारण उस शून्यता को माध्यमिकों ने

निर्वाण भी कहा, तथा प्रज्ञापारमिता भी। अद्वैत में भी ब्रह्म को स्वप्रकाश माना जाता है, परन्तु उसकी परिभाषा जो दी जाती है वह यही कि 'अवेद्यत्वे सति अपरोक्ष-व्यवहारयोग्यत्वम्'—अवेद्य होते हुए अपरोक्षव्यवहारयोग्य होना ही स्वप्रकाशता है।' अवेद्य का तात्पर्य ही है किसी भी प्रमाण के द्वारा वेद्य न होना। वेद्य होगा भी तो कैसे? आत्मा की अपरोक्षानुभूति की दशा में प्रमाण व प्रमेय का कोई विभाग रह कहाँ जाता है? 'ज्ञातारं वाऽरे केन विजानीयात्' इत्यादि औपनिषदिक सूक्तियों का तात्पर्य यही तो है। अद्वैतियों की भी शून्यवादियों के समान वही स्थिति बनती है जिसमें ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा व पुरुषार्थमीमांसा एकरूप हो जाते हैं। इसी प्रकार विज्ञानवादियों का आलयविज्ञान भी प्रमाण, प्रमेय व पुरुषार्थ इन विभागों से परे है। मोक्ष, निर्वाण आदि भी भारतीय दर्शनों की प्राग्विमर्शीय अवधारणाएं नहीं हैं, किन्तु ज्ञान की निष्पक्ष विवेचना करने के क्रम में सहज रूप में प्राप्त किये जाने वाले निष्कर्ष हैं। ज्ञानमीमांसा ही इन सबके लिए मानक का कार्य करती है। जिस प्रकार वस्तु के विषय में सत् व असत् इस प्रकार से दो सामान्य बुद्धिविकल्प आते हैं उसी प्रकार हमारे कर्मों के विषय में भी अच्छा या बुरा ये दो विकल्प आते हैं जिस प्रकार सम्यक् सम्परीक्षित ज्ञानमीमांसा अपने विवेचन के क्रम में सत्, असत् आदि विकल्पों से परे किसी विकल्पाविषय तत्त्व का सङ्केत करती है। मोक्ष व निर्वाण उसी प्रकार के पुरुषार्थ हैं। संस्कृति के भी अङ्ग बनने के लिए किसी प्रयोजन को प्रथमतया तो विचार में आना ही होता है। इस कारण जो विद्वान् भारतीय दर्शनों में मोक्ष व निर्वाण सम्बन्धी अवधारणाओं को सांस्कृतिक प्रभाव से आया हुआ मानते हैं, मैं उनसे खुद को सहमत नहीं पाता हूँ। दर्शन का संस्कृति से बहुत ही गहन रिश्ता है। ये अवधारणाएं वस्तुतः दर्शन के प्रभाववश संस्कृति में आयी हैं, संस्कृति के प्रभाव से दर्शन में नहीं।

इसको संक्षिप्त करते हुए कहा जा सकता है कि जो दार्शनिक प्रमाणों का स्वपक्षसाधन तथा परपक्षखण्डन उभयविध उपयोग करते हैं उनके लिए प्रमाणों के अधीन प्रमेय की सिद्धि स्वीकार करना अनिवार्य है तथा जो केवल परपक्षखण्डनार्थ प्रमाणों का उपयोग करते हैं उनके लिए प्रमेयसिद्धि की बात ही सामने नहीं आती। वे परमार्थ को वस्तुतः प्रमाणातीत प्रमाणों से अज्ञेय ही मानने का पक्ष रखते दिखते हैं। स्वपक्षसाधन तथा परपक्ष खण्डन केवल परार्थानुमान में ही नहीं आते हैं, अपितु स्वयं अपना सिद्धान्त निर्धारित करने के लिए भी उपयुक्त होते हैं। परन्तु कहीं भी किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय में प्रमेयों के अधीन प्रमाण की सिद्धि की बात नहीं आती। कोई दार्शनिक परम्परा 'प्रमेयों के अधीन प्रमाण की सिद्धि' की बात कहती है, इस प्रकार का दावा वस्तुतः युक्ति व अनुभव दोनों के विरुद्ध है। प्रमाणमीमांसा किसी भी दार्शनिक तत्त्वमीमांसा की पूर्वगामी होती है, तभी वह तत्त्वमीमांसा दर्शन के अन्तर्गत परिगणित होने की अधिकारिणी बनती है।

## सन्दर्भ

1. मेरे दार्शनिक मित्र डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा ने अपने अनेक आलेखों में बौद्धों के द्वारा 'मेयाधीना मानसिद्धिः' सिद्धान्त स्वीकृत होने का पक्ष प्रस्तावित किया है, जो कि **'उन्मीलन'** में प्रकाशित है। मैं अपेक्षा करता हूँ कि वे मेरी आशङ्काओं का कुछ समुचित समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे। विस्तृत विवेचन के लिए उनका ग्रन्थ **'बौद्धप्रमाणदर्शन'** विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर 2006 द्रष्टव्य है।

2. अत्रोच्यते–विषयद्वैविध्यं प्रत्यक्षत एव सिद्धम्। प्रज्ञाकरगुप्त, **प्रमाणवार्तिकालङ्कारभाष्य** (स्वामी योगीन्द्रानन्द), पृ. 414 षड्दर्शनप्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी, 1961

3. मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात्, शक्त्यशक्तितः।
अर्थक्रियायां केशादिर्नार्थोऽनर्थाधिमोक्षतः।।
सदृशासदृशत्वाच्च विषयाविषयत्वतः।
शब्दस्यान्यनिमित्तानां भावे धीसदसत्त्वतः।। – **प्रमाणवार्तिक** – 2-1,2

4. सदृशादृशप्रतीतिर्हि प्रतीतिरेव धर्मः, स च स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धः। प्रज्ञाकरगुप्त, **प्रमाणवार्तिकालङ्कारभाष्य** (स्वामी योगीन्द्रानन्द), पृ. 414

5. ननु कथं विषयद्वैविध्यसिद्धिः? न प्रत्यक्षात् नाप्यनुमानतः, यथाक्रमं स्वलक्षणसामान्यलक्षणविषयत्वादनयो। द्वाभ्यां द्वयसिद्धिरिति चेत्? ननु प्रत्यक्षस्य सामान्यविषयत्वे साध्यसाधनसम्बन्धाग्रहणादनुमानमेव न स्यात्। सामान्यविषयत्वे च प्रत्यक्षत्वादेव तत्सिद्धेर्विफलमनुमानस्य प्रामाण्यकल्पनम्?
न चैवमप्यनुमानस्य वैयर्थ्यम्। न हि सामान्यमित्येव प्रत्यक्षविषय, परोक्षे तस्याप्रवृत्ते। न च यदेकदाऽपरोक्षं तत्सर्वदा तथा। स्वलक्षणं कदाचिदपरोक्षमन्यदा परोक्षम्, एवं सामान्यमपि। ततोऽपरोक्षे सामान्ये गृहीतायां व्याप्तौ तस्मिन्ननुमानवृत्तिरिति न कश्चिद्विरोधः। तस्मात् प्रत्यक्षत्वाद्वा विषयद्वैविध्यसिद्धिः, प्रत्यक्षानुमानाभ्यां वैत्युभयथाप्युपपन्नम्। **प्रमाणवार्तिक, मनोरथनन्दिवृत्ति**, पृ. 98-99

6. प्रमाणप्रमेयानि स्वतोऽसिद्धानि, मिथोऽभिसम्प्लुतत्वात्। **वैदल्यसूत्र, पृ.** 27

7. न प्रकाशयति दीपः स्वात्मानं तमोऽभावात्। वैदल्यसूत्र, पृ. 29, सम्पादक–आचार्य सैम्षा दोर्जे, तिब्बती हिन्दी केन्द्र, वाराणसी, 1974

8. अन्यैर्यदि प्रमाणैः प्रमाणसिद्धिर्भवेत्तदानवस्था।
नादेः सिद्धिस्तत्रास्ति नैव मध्यस्य नान्त्यस्य।। **विग्रहव्यावर्तनी**, 32

9. सिध्यन्ति हि प्रमेयाण्यपेक्ष्य यदि सर्वथा प्रमाणानि।
भवति प्रमेयसिद्धिर्निपेक्ष्यैव प्रमाणानि।।– **विग्रहव्यावर्तनी**, 43

10. अथ ते प्रमाणसिद्ध्यया प्रमेयसिद्धि प्रमेयसिद्ध्या च।
भवति प्रमाणसिद्धिर्नास्त्युभयस्यापि ते सिद्धिः।। **विग्रहव्यावर्तनी**, 46

11. न सिध्यन्ति कालत्रयेऽपि प्रमाणानि। – **वेदल्यसूत्र**, पृ. 29

12. त्रैकाल्यासिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः। – **न्यायसूत्र**, 2-1-12

13. स्वव्याघातकमुत्तरं जात्युत्तरम्।

14. त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः। –**न्यायसूत्र** 5-1--18

15. प्रतिषेधानुपपत्तेश्च प्रतिषेद्धव्याप्रतिषेधः। –**न्यायसूत्र**, 2-1-13

16. न हेतुन साध्यसिद्धेस्त्रैकात्यसिद्धि। –**न्यायसूत्र**, 2-1-12

17. त्रैकाल्याप्रतिषेधश्च – शब्दादातोद्यसिद्धिवत्तत्सिद्धेः। –**न्यायसूत्र**, 2-1-15

18. उपलब्धिहेतोरुपलब्धिविषस्यचार्थस्य पूर्वापरसहभावानियमाद् यथादर्शनं विभागवचनम्। **न्यायभाष्य** (–**न्यायसूत्र**, 2-1-11 पर)

19. यथा प्रदीपप्रकाशः प्रत्यक्षाङ्गत्वाद् दृश्यदर्शनं प्रमाणं स च प्रत्यक्षान्तरेण चक्षुषः सन्निकर्षेण गृह्यते ... एवं प्रत्यक्षादीनां यथादर्शनं प्रत्यक्षादिभिरेवोपलब्धः। **न्यायभाष्य** (–**न्यायसूत्र**, 2-1-19 पर)

20. 'अहं सुखी अहं दुःखी च' इति तेनैव ज्ञात्रा तस्यैव ग्रहणं दृश्यते। 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' इति च तेनैव मनसा तस्यैवानुमानं दृश्यते। न्यायभाष्य (–**न्यायसूत्र**, 2-1-19 पर)

21. साधर्म्यसमा जाति वह है जिसमें केवल साधर्म्यमात्र का प्रदर्शन कर दिया जाये, कोई कारण न बताया जाये।

22. संविद्विषयनिमित्तानामुपलब्ध्या व्यवहारोपपत्तेः। **न्यायभाष्य** (–न्यायसूत्र, 2-1-19 पर)

23. द्रष्टव्य – **तर्कसङ्ग्रह**, अन्नम्भट्ट कृत।

24. वैदल्यसूत्र प्रारम्भ।

25. ननु शून्यत्वं सिद्धं भावानामस्वभावत्वात्। **विग्रहव्यावर्तनी**-21

26. अत्रायं प्रष्टव्यः – अथाऽनेन प्रतिषेधेन भवता किं क्रियते इति, किं सम्भवो निवर्त्यते? अथासम्भवो ज्ञाप्यते? इति। तद्यदि सम्भवो निवर्त्यते, सति सम्भवे प्रतिषेधानुपपत्तिः। अथासम्भवो ज्ञाप्यते? प्रमाणलक्षणं प्राप्तस्तर्हि प्रतिषेधः–प्रमाणसम्भवस्योपलब्धिहेतुत्वात्। **न्यायभाष्य** (–**न्यायसूत्र**, 2-1-11 पर)

27. कश्च पिता कश्च पुत्रस्तत्र त्वं ब्रूहि तावुभावपि च।
पितापुत्रलक्षणधरौ यतो भवति नोऽत्र सन्देहः।। **विग्रहव्यावर्तनी**-50

28. उच्यते। यदि कश्चिन्निश्चयो नामास्मांकं स्यात्, स प्रमाणजो वा स्यादप्रमाणजो वा। न त्वस्ति।, पृ. 21 **मध्यमकशास्त्र**, चन्द्रकीर्तिवृत्ति, सम्पादक – पी. एल. वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभङ्गा, 1987

29. सोऽयमपूर्व प्रमाणादिसत्त्वानभ्युपगमात्मा वाक्स्तम्भनमन्त्रो भवताऽभ्यूहितः, नूनं यस्य प्रभावाद् भगवता सुरगुरुणा लोकायतिकानि सूत्राणि न प्रणीतानि, तथागतेन वा मध्यमागमा

नोपदिष्टा:, भगवत्पादेन वा बादरायणीयेषु सूत्रेषु भाष्यं नाभाषि। पृ. 7–8 खण्डनखण्डखाद्य, (खण्डनफक्किका, खण्डनपञ्जिका, खण्डनपञ्जिका सहित) सम्पादक–योगीन्द्रानन्द, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1992

30. द्रष्टव्य, पृ. 14–17

31. ना द्य:, विचारप्रवृत्तिमन्तरेण तस्य दुर्निरूपत्वात्, तदर्थमेव च पूर्वं नियमस्य गवेषणात्। पृ. 18, वही।

32. नापि द्वितीय:, शरीरात्मत्वादीनामपि तथा सति भवता स्वीकर्तव्यत्वापातात्। पश्चात्तद्विचारबाध्यतया नाभ्युपेयते इति चेत्? तर्हि प्रमाणादयोऽपि यदि विचारबाध्या भविष्यन्ति तदा नाभ्युपेया एव, अन्यथा तु उपगन्तव्या इति लोकव्यवहारसिद्धतया सत्त्वमभ्युपेयत इति तावन्न भवति। वही

33. द्रष्टव्य, पृ. 18–19 वही

34. मैवम्, न ब्रूमो वयं न सन्ति प्रमाणादीनि इति स्वीकृत्य कथाऽऽरभ्येति। किन्नाम सन्ति न सन्ति वा प्रमाणादीनीत्यस्यां चिन्तायामुदासीनै:, यथा स्वीकृत्य तानि भवता व्यवह्रियते, तथा व्यवहारिभिरेव कथा प्रवर्त्यतामिति। अन्यथा न सन्ति प्रमाणादीनीति मतमस्माकमारोप्य यदिदं भवता दूषणमुक्तं तदपि न वक्तुं शक्यम्। पृ. 11, वही

35. व्यावहारिकीं प्रमाणादिसत्तामादाय विचारारम्भ इति। पृ. 22 वही

36. सल्लक्षणनिबन्धनं मानव्यवस्थानम्, माननिबन्धना च मेयस्थिति:, तदभावे तयो: सद्व्यवहारविषयत्वं कथम्? तत्त्वोपप्लवसिंह, प्रथमपृष्ठ।

37. मानाधीना मेयसिद्धिर्मानसिद्धिश्च लक्षणात्।
तच्चाध्यक्षादिमानेषु गीर्वाणैरपि दुर्भणम्।। – तत्त्वदीपिका, द्वितीयखण्ड, लक्षणनिराकरण।

38. The pramāṇas themselves justified by the kind of ontology on which they are grounded: *meyādhinā Mānasiddhiḥ.* p.13A. K.Chatterji, THE CONCEPT OF PRAMĀṆ IN PHILOSOPHY. The Vishvabharati Juournal of Philosophy, Vol. IV No2. July 1967.

39. चतुर्विधा चात्र विप्रतिपत्ति: सङ्ख्या–लक्षण–गोचर–फलविषया। न्यायबिन्दुटीका, पृ. 16

40. See – THE CONCEPT OF PRAMĀNA IN PHILOSOPHY,

41. Since there is no addition to our stock of knowledge we do not require the mediation of any *pramāṇa* p. 13 Ibid.

42. At some points or other we have to accept the possibility of pure analysis which does not depend on any *pramāṇavāda* see p. 13 Ibid.

43. तस्मादविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि चेति। आचार्य शङ्कर, अध्यासभाष्य, ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य

44. They are in fact to be accepted in faith and only interpreted by thought p. 95, K. C. Bhattacharya, SANKARA'S DOCTRINE OF MĀYĀ, STUDIES IN PHILOSOPHY, Edited by Gopinath Bhattachrya, Progressive Publishers, Calcutta, 1956.

45. कल्पनापोढ़स्यैव च ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमात्, तेन च लोकस्य संव्यवहाराभावात्, लौकिकस्य च प्रमाणप्रमेयव्यवहारस्य व्याख्यातुमिष्टत्वाद् व्यर्थैव प्रत्यक्षप्रमाणकल्पना सञ्जायते। **मध्यमशास्त्र** चन्द्रकीर्तिवृत्ति, पृ. 28

46. **प्रमाणवार्तिक** 2/124-25

47. तस्माल्लोके यदि लक्ष्यं यदि वा स्वलक्षणं सामान्यलक्षणं वा, सर्वमेव साक्षादुपलभ्यमानत्वादपरोक्षम्, परोक्षविषयं तु ज्ञानं साध्याव्यभिचारिलिङ्गोत्पन्नमनुमानम्। साक्षादतीन्द्रियार्थविदामाप्तानां यद्वचनं स आगमः। सादृष्यादननुभूतार्थाधिगमं उपमानम्, गौरिव गवय इति यथा। तदेवं प्रमाणचतुष्ट्याल्लोकस्यार्थाधिगमो व्यवस्थाप्यते। **मध्यमकशास्त्र**, चन्द्रकीर्तिवृत्ति, पृ. 28

दर्शन तथा धर्म विभाग,
काशी हिन्दु विश्वविद्यालय,
वाराणसी।

# दर्शन और संस्कृति*

यशदेव शल्य

संस्कृति किसी मानव-समाज के मनोमय जीवन में आत्मानुसंधान की परम्परा को कहा जाता है। मानव-समाज अनेक हैं और इनकी अनेकता का मूल इनकी संस्कृतियों की अनेकता में होता है। उदाहरणतः एक भारतीय संस्कृति है, और साथ ही भारत में सांस्कृतिक अनेकता भी है, जिसका अर्थ है कि 'भारत' कहे जाने वाले भू-भाग में एक कोने से दूसरे कोने तक रहने वाले अधिकांश व्यक्ति एक मानसिकता में सहभागी हैं, उनके एक आदर्श और एक ही स्मृतियां हैं, किन्तु इसी भू-भाग में रहने वाले अन्य बहुत से व्यक्ति भी हैं जो इस मानसिकता में सहभागी नहीं हैं। जिसे भारत की 'अनेकता में एकता' कहा जाता है वह सांस्कृतिक रूप से अनेक समाजों का व्यक्तियों के समान एक भू-भाग में पारस्परिकता के भाव से रहना है, इस अंतर के साथ कि व्यक्ति देह से भी भिन्न होते हैं और मनोरचना से भी, जबकि संस्कृतियों का भेद केवल मनोरचना का भेद होता है। इसलिए संस्कृतियां एक ही देश में अनेक हो सकती हैं और अनेक देशों में एक। यहाँ संस्कृति के विषय में एक महत्त्वपूर्ण बात और है–'मनोमय जीवन में व्यक्ति-भेद' का अर्थ है कि मनोमय जीवन एक केन्द्र के साथ एक वलय बनाता है और ये वलय भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न होते हैं। इसी प्रकार संस्कृतियां विभिन्न केन्द्रों के साथ विभिन्न वलयों का निर्माण करती हैं। इसी अर्थ में एक ही देश में समाजों और संस्कृतियों की भिन्नता होती है। अब, मान लें कि टेक्नोलॉजी की और अधिक उन्नति के कारण भविष्य में सम्पूर्ण संसार की एक ही संस्कृति हो जाये। तो यह अनेक संभव संस्कृतियों में से ही एक संस्कृति होगी, जैसे संसार में एक ही व्यक्ति बचने पर वह अनेक संभव व्यक्तियों में से ही एक होगा।

दर्शन संस्कृति का एक अंग होता है। दूसरे अंग कलाएं, साहित्य, विज्ञान और शास्त्र आदि होते हैं। काव्य और कलाएं भाव-लोक का विमर्श करती हैं,विज्ञान इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तु-लोक का विमर्श करता है और दर्शन विचार-ग्राह्य तत्त्वों के लोक का विमर्श करता है। इन विमर्शों के रूप प्रत्येक संस्कृति के अपने विशिष्ट होते हैं, किन्तु प्रत्येक विमर्श-रूप सत्य के अनुसंधान का दावा करता है। यदि दर्शन का संस्कृति-सापेक्ष होना अनिवार्य है तो दर्शन सत्य के अनुसंधान का दावा कैसे कर

*. दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर में अन्तर्राष्ट्रीय दर्शन-दिवस (2005) के उपलक्ष में आयोजित श्री यशदेव शल्य तथा प्रोफेसर दयाकृष्ण के व्याख्यानों का सारांश।

सकता है? किन्तु कोई दार्शनिक यह स्वीकार नहीं करेगा कि उसका प्रतिपादन उसकी संस्कृति के लिए ही सत्य है। शंकर ब्रह्म को अद्वय सत्ता निरपेक्ष रूप से कहते हैं और काँट जगत् को स्वलक्षण वस्तु पर चेतना की कल्पनाओं के आरोप का प्रकार्य निरपेक्ष रूप में मानते हैं।

सत्य को इस प्रकार निरपेक्ष मानने में यह पूर्वगृहीत है कि सत्य देखने वाले से बाहर कहीं विद्यमान वस्तु का प्रत्यक्ष या ज्ञान है। इसमें हम भौतिक वस्तु और उसके ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष का निदर्श (मॉडल) लेकर चलते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है। सत्य चेतना ही के एक व्यापार का अन्तर्गत धर्म होता है। प्रत्यक्ष में भी हम बहुत बार भ्रांत होते हैं– रस्सी को साँप देखते हैं और पेड़ को भूत देखते हैं। इसमें हम मानते हैं कि ऐसा हमारे चेतनागत दोष के कारण हुआ। अब, यदि भ्रान्त प्रत्यक्ष चेतना-गत दोषमूलक है तो निर्भ्रान्त प्रत्यक्ष निर्दोष चेतनामूलक होना चाहिए। अब, यदि ऐन्द्रिय प्रत्यक्षों के लिए ऐसा है तब अतीन्द्रिय प्रत्यक्षों की तो बात ही क्या है? किन्तु उनमें भी सत्यासत्य का भेद तो होता ही है। जैसे, हम मानते हैं कि काम, क्रोध, मोह आदि हमारी चेतना को आवृत करते हैं, अर्थात् चेतना के सत्य-दर्शन में अवरोधक बनते हैं। इसका अर्थ हुआ कि काम, क्रोध आदि से अनावृत चेतना सत्य का साक्षात्कार कर सकती है। जैसाकि हमने पीछे देखा, बाह्य वस्तु के प्रत्यक्ष में भी सत्य या असत्य का दर्शन तो चेतना ही करती है, इसी प्रकार विचार भी सत्य-दर्शन का एक उपकरण है, वास्तव में इन्द्रिय से अधिक उत्कृष्ट उपकरण। इस उपकरण के अनेक आयाम हैं, जिनमें से एक आयाम तत्त्वों का प्रत्यक्ष करता है। जैसे, 'मनुष्य क्या है' इस प्रश्न का विषय मनुष्यत्व (मनुष्य का तत्त्व) है। इस पर विचार हमें मनुष्य के स्वरूप-विषयक सत्य या असत्य का ज्ञान देता है। दर्शन का क्षेत्र ऐसे सत्यों का ज्ञान है।

किन्तु यदि दर्शन अनिवार्यत: संस्कृति-सापेक्ष होता है तो संस्कृति को चेतना पर आवरण ही मानना होगा, जबकि संस्कृति चेतना को सत्यानुसंधान के लिए उन्मुख और प्रखरतर करने की पर्याय समझी जाती है, जैसाकि इस व्याख्यान के आरंभ में दी गई संस्कृति की परिभाषा से स्पष्ट है। तब इस प्रकट अन्तर्विरोध का समाधान क्या है? वास्तव में दार्शनिक दृष्टियों में भेद संस्कृति-भेद से ही नहीं होता, एक ही संस्कृति के भीतर भी विभिन्न दार्शनिक दृष्टियां होती हैं–अद्वैतवाद, अनेकात्मवाद, प्रत्ययवाद, भौतिकवाद आदि विभिन्न मत किसी भी एक संस्कृति के भीतर के दार्शनिक विचार में भी मिलते हैं। तो क्या ये मत-भेद इस बात के द्योतक हैं कि दर्शन सत्य का ज्ञान देता ही नहीं, या यदि देता है तो इनमें कोई एक मत तो सत्य हो सकता है और शेष भ्रान्त? इसका समाधान यह है कि दृष्टियों के ये विषय दृष्टियों के उस प्रकार बाहर कहीं नहीं होते जिस प्रकार हम समझते हैं कि ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषय बाहर देश में होते हैं, न ये दृष्टि के भीतर उस प्रकार होते हैं जिस प्रकार सुख-दु:ख और स्वाद-बेस्वाद अनुभव के

भीतर होते हैं। ये सत्यान्वेषी दृष्टि का उन्मेष होने पर उसमें प्रकट होते हैं और उसके अपने अवगाहन के रूप में, अपने भीतर गोता लगाने के रूप में, अनुसन्धेय बनते हैं। इसे समझने के लिए किन्हीं दो प्रामाणिक व्यक्तियों को उदाहरण रूप में लिया जा सकता है, जैसे बुद्ध और महावीर को, या कबीर और तुलसी को। इन चारों के साक्षात्कृत सत्यों में अन्तर है, किन्तु इनमें किसी को भी असत्यदर्शी या असम्यक्‌दर्शी नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार संस्कृतियों के लिए भी कहा जा सकता है। वेदांत-दृष्टि का उन्मेष भारतीय संस्कृति के भीतर से ही हो सकता था और न्यूटनीय या आईंस्टाइनीय दृष्टि का उन्मेष यूरोपीय संस्कृति के भीतर से ही हो सकता था। ये दो सत्य-दर्शन समान रूप से प्रामाणिक हैं। बहुत बार संस्कृतियां पथ-भ्रष्ट भी होती हैं–जब वे अपनी दृष्टि का अर्थ समझने में असमर्थ रहती हैं। जैसे पश्चिम में वैज्ञानिक दृष्टि के उन्मेष ने इस भ्रांति को जन्म दिया कि मन, बुद्धि और विवेक भौतिक स्वरूप के हैं और भारत के बौद्ध और वैदान्तिक दृष्टियों के उन्मेष ने इस भ्रांति को जन्म दिया कि जीवन के जैव और सांसारिक पक्ष आभारभूत रूप से दोष-रूप (मिथ्या) हैं और ब्रह्म या विज्ञप्ति या शून्यता ही सत्य है।

**प्रोफेसर दयाकृष्ण**

संस्कृति पर विचार करने पर जो प्रश्न सबसे पहले ध्यान में आता है वह यह कि ऐसा क्यों है कि संस्कृतियों की बात करते ही हमारा ध्यान पीछे की ओर जाता है और हम पुरानी खोज में लग जाते हैं? संस्कृतियों की बात करते ही हम उनके मूल या अधिष्ठान की बात क्यों करते हैं? क्या संस्कृति का कोई भविष्य नहीं होता? या जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं–क्या वह समाप्त हो गई है?

दर्शन की सार्थकता अनंत जिज्ञासा में है। दर्शन में 'क्यों', 'कहां', 'कैसे' इन प्रश्नों की अनन्त शृंखला बनती चलती है। यदि यह ठीक है तो हमें परम्परा के विषय में भी प्रश्न उठाने चाहिएं। ऐसा मानकर नहीं चलना चाहिए कि हमारी परम्परा में जो कुछ भी है वह ठीक है, या उसके संदर्भ में प्रश्न नहीं किये जा सकते। हमारी संस्कृति में परम्परा-विषयक कई ऐसे प्रश्न उठते हैं और उन्हें उठाया भी जाना चाहिए, जैसे—वेद, जिन्हें हम भारतीय परम्परा का मूल कहते हैं, वे क्या हैं? वेद का स्वरूप क्या है? वेदों की परम्परा शाखाओं में विकसित हुई और उनके भीतर विचार-विमर्श भी हुए हैं, मगर वेद शाखाओं में हैं तो 'यही वेद है' कहना कहाँ तक औचित्यपूर्ण है? शाखाओं से स्वतंत्र क्या कोई वेद है भी? दूसरे, हमारी परम्परा में कहा गया है–'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' यदि ऐसा है तो ब्रह्म-जिज्ञासा या आत्म-जिज्ञासा का अधिकार सभी को क्यों नहीं दिया गया? वह वर्ग-विशेष तक ही क्यों सीमित रहा है? इस पर हमें विचार करना चाहिए।

ऐसा माना जाता रहा है कि हमारी सारी वर्ण-व्यवस्था का आधार ऋग्वेद का पुरुष-सूक्त है। यह एक बहुत ही आश्चर्यजनक बात है। यह वस्तुतः विचारणीय है कि कोई कैसे इस सूक्त से वर्ण-व्यवस्था को निगमित कर सकता है? पुरुष-सूक्त पूर्णतया

वैश्व रूप का है। इस सूक्त में कहा गया है कि वैश्व पुरुष ही सब कुछ है–वही सूर्य है, चन्द्रमा है, वरुण है आदि-आदि। इस प्रकार की वैश्व दृष्टि यजुर्वेद में भी है। वहाँ एक जगह स्पष्ट लिखा है कि "ये सब (सभी वर्णों के लोग) न ब्राह्मण हैं, न शूद्र हैं–ये सब प्रजापति की संतान हैं।" मनुष्य मात्र प्रजापति की संतान है। यदि ऐसा है तो यहाँ हमें सभी के लिए समान अधिकार का विचार प्राप्त होता है। परन्तु इस वैश्व दृष्टि को हमने देखा ही नहीं। 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' में निहित 'सर्व' पद को हम भूल रहे हैं। हमारी परम्परा के साथ, परम्परा के भाष्यकारों के साथ कहीं कुछ गहरी समस्या है, जिस पर हमें पुनर्विचार करना चाहिए।

जब भी हम अपनी परम्परा को, या अपने आप को, या किसी और को देखते हैं, या जहाँ भी मनुष्य की दृष्टि जाती है, वह पाता है कि वह वैसा नहीं है जैसा उसे होना चाहिए। जैसे ही हमें यह बोध होता है यह बोध हमें कर्म की ओर प्रवृत्त करता है–समस्या केवल ज्ञान की नहीं है, कर्म की भी है। सत्य के दो आयाम होते हैं – एक उससे सम्बन्धित है जो कि 'है', अर्थात् जो वस्तुस्थिति है, दूसरे का संबंध उससे है जो होना 'चाहिए'। ये दोनों भिन्न प्रकार के सत्य हैं। जब हम दूसरे प्रकार के सत्य की बात करेंगे तो हमें कर्म की बात करनी होगी। उसके लिए हमें कुछ करना होगा। जब हम संस्कृतियों के भविष्य की बात करेंगे तो हमें यही सोचना होगा कि उनमें क्या ख़ामियां/कमियां हैं, जिन्हें हमें दूर करना है। यह हमें कर्म की ओर प्रेरित करेगा कि मनुष्यों के संबंधों को और अच्छा कैसे बनायें? परिवेश को ठीक कैसे बनायें? इसमें सार्थक परिवर्तन कैसे लायें? यह एक चुनौती है और इससे भी गहरी बात यह है कि हमें केवल सिखाना ही नहीं है, सीखना भी है। हमें ऐसे आत्माभिमान से बचना चाहिए कि हमने किसी से कुछ नहीं लिया है या हमने हमेशा दूसरों को दिया ही है। यह एक प्रकार का अहंकार है जो कि सर्वव्यापक है। हमारी संस्कृति एक दायरे में बँधी हुई संस्कृति नहीं है—इस पर अन्यों का प्रभाव भी है। हम यह देखते हैं कि हम क्या हैं, हमें यह भी देखना है कि दूसरे हमें कैसे देखते हैं। यथार्थ दर्शन हमें सीखना, सुनना व समझना सिखाता है।

जब हम अपनी संस्कृति को समझ कर उसके दोषों को जानकर उन्हें हटाने का प्रयास करेंगे तो यह एक सामूहिक प्रयास ही हो सकता है। ऐसा प्रयास अकेले नहीं किया जा सकता–सबके साथ मिलकर होता है। कर्म व्यक्ति-केन्द्रित ही नहीं होता है। हमें सबके साथ, मिल-जुल कर काम करना है, सारे विश्व के साथ चल कर आगे जाना है। हमें वैश्वदेवता, एकात्मभाव की ओर बढ़ना है। हम भारतीय हैं, यह अच्छी बात है, परन्तु हम केवल भारतीय ही नहीं हैं–हम मनुष्य भी हैं। हमें एक नई संस्कृति, जिसे हम मनुष्य मात्र की संस्कृति या वैश्विक संस्कृति कहते हैं, उस ओर बढ़ना है। परम्पराओं पर दार्शनिक चिंतन इस रूप में सार्थक हो सकता है।

———

# उन्मीलन–गोष्ठियाँ

बहुत अन्तराल के बाद इस बार मार्च–अप्रैल में तीन उन्मीलन–गोष्ठियाँ हुईं, जिनमें निम्न लोगों ने भाग लिया–

डॉ. मुकुंद लाठ, डॉ. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर, डॉ. सरला कल्ला, डॉ. योगेश गुप्ता, डॉ. के. एल. शर्मा तथा यशदेव शल्य। उन्मीलन गोष्ठियों के बहुत महत्त्वपूर्ण दो सदस्य—दयाजी तथा नन्दकिशोर जी—हमें छोड़कर सदा के लिए चले गए और अपूर्य अभाव हमारे लिए छोड़ गए।

इन गोष्ठियों में क्रमश: प्रोफेसर सरला कल्ला, प्रोफेसर राजेन्द्रस्वरूप भटनागर तथा डॉ. मुकुन्द लाठ ने कला पर अपने विचार प्रस्तुत किये। सरलाजी ने लिखित रूप में और भटनागर जी तथा मुकुंद जी ने मौखिक रूप में। भटनागरजी ने अपने विचार संक्षेप में लिखकर दिये हैं जो यहाँ प्रकाशित किये जा रहे हैं, मुकुंदजी बाद में लिखकर देंगे और वे उन्मीलन के अगले अंक में प्रकाशित किये जाएंगे। इन प्रस्तुतियों पर जो विचार–विमर्श हुआ उसका विवरण नहीं दिया जा रहा है, किन्तु सरलाजी का लेख मेरे विचारों पर होने के कारण मेरे द्वारा स्पष्टीकरण की अपेक्षा करता है। वह स्पष्टकरण मैं अगले अंक में दूँगा। (शल्य)

**गोष्ठी – 1**

## शल्यजी और कला का सत्य

### सरला कल्ला

कला के सत्य पर शल्यजी ने काफी विस्तार से लिखा है। कलागत सत्य पर उनका चिंतन अप्रतिम है, ऐसा कहा जा सकता है। सत्य को कला का अन्वेष्य बताते हुए उन्होंने सत्य को व्यापक रूप में समझा है। उनके अनुसार सत्य ज्ञानात्मक ही नहीं भावात्मक भी होता है, सामान्यीकृत ही नहीं विशिष्टपरक भी होता है, किन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण है उनका सत्य को विषयवृत्तिक ही नहीं विषयिवृत्तिक के रूप में भी देखना और कला को विषयिवृत्तिक सत्य के अर्थोन्मेष के रूप में देखना। वास्तव में तो उनके लिए 'विषयिता का विषयिता प्रत्यय रूप में अवगमन' कला का अवच्छेदक लक्षण है जो एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है। 'भोक्तृ चेतना में विषयिता का अर्थात्मक उन्मेष – उस अर्थ का साक्षात्कार – और उसकी अभिव्यक्ति', कला–रचना को उनकी पदावली में ऐसे परिभाषित किया जा सकता है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, पाश्चात्य और भारतीय चिंतन–परंपराओं में किसी ने कला के स्वरूप और कलान्वेष्य सत्य को इस रूप में नहीं देखा बल्कि बहुधा कला में सत्य का स्थान ही नहीं देखा। शल्यजी के लेख 'कला का सत्य'[1] में यही विषय

---

1. यह लेख निर्मल वर्मा द्वितीय स्मृति–व्याख्यान के रूप में अप्रैल 2008 को नई दिल्ली में पढ़ा गया था और **नया ज्ञानोदय** के नवंबर, 2008 अंक में प्रकाशित हुआ।

मुख्य रूप से विचारणीय बना है। निर्मल वर्मा और उनके सदृश विचार रखने वाले विद्वानों पर टिप्पणी करते हुए लिखे गए इस लेख में उभरे उन कुछ प्रश्नों को यहाँ मैं विचारार्थ प्रस्तुत कर रही हूँ, जहाँ मुझे शल्यजी के विचारों में कुछ समस्या दिखाई देती है।

निर्मलजी ने 'कला में सत्य की अवधारणा' शीर्षक व्याख्यानों में टॉलस्टॉय व नीत्शे के कथनों को उद्धृत किया है, जो शल्यजी के उपर्युक्त मत से विपरीत जाते हैं, किन्तु जो कई कला-विचारकों को मान्य रहे हैं। टॉलस्टॉय के अनुसार 'सौन्दर्य के नाम पर कला जो रचती है वह सत्य के उस जटिल रूप को विकृत करता है जिसे हम वास्तविक जीवन में भोगते हैं।' नीत्शे के अनुसार 'मनुष्य कला का सहारा सत्य की मार से बचने के लिए लेता है।' और इस रूप में वे कला और सत्य में विरोध देखते हैं। इन कथनों में प्रयुक्त पद 'सत्य' की भ्रांति का निराकरण करते हुए शल्यजी ने ठीक ही इन्हें अयुक्त ठहराया है। निर्मलजी स्वयं कला में सत्य को नकारते नहीं हैं किन्तु उसे कला के रचनागत गुण के रूप में देखते हैं। उनके अनुसार 'कला का सत्य उस रूपाकार में अवस्थित होता है जिस रूपाकार में वह अपने को प्रस्तुत करती है। हम किसी कविता के अर्थ का दूसरे शब्दों में उसकी प्रस्तुति से कुछ अनुमान कर सकते हैं किन्तु वह उसके अर्थ की प्रेत-छाया ही हो सकता है।' इसी संदर्भ में वे एक चित्रकार के मत को उद्धृत करते हैं कि 'मेरे चित्र (लड़ते सैनिकों का चित्र) सैनिकों के एक-दूसरे की हत्या करते होने के बारे में नहीं है, यद्यपि वह उसके बारे में भी है। वास्तव में तो वह प्रकाश और छाया के बारे में, और उनसे उभरती आकृतियों के बारे में है।' जिनका शल्यजी के कला-विषयक विचारों से थोड़ा भी परिचय है वे जान सकते हैं कि यह मत शल्यजी के मत से कितना अलग है, जिनके अनुसार कलागत सत्य आत्मचेतन चेतना द्वारा साक्षात्कृत प्रत्ययमूलक अर्थ से गर्भित होता है। वह कला के रूपाकार में नहीं हो सकता जैसाकि निर्मलजी और क्लाइव बेल या रोजर फ्राई जैसे पाश्चात्य विचारक मानते हैं। वास्तव में शल्यजी को उपर्युक्त कथनों में कोई सार्थकता ही नहीं दिखती। वे पूछते हैं कि "एक कविता को उसके शब्दों की ध्वनि या शब्दानुक्रम-पर्यन्त ही देखना चाहिए या कि शब्दों के वाच्य अर्थ और उस अर्थ की वाच्य भाव-स्थिति या वस्तुस्थिति में देखना चाहिए? *क्या कई बार ऐसा नहीं होता कि एक कविता अन्य भाषा में अनुवाद में अधिक सफल दिखाई देती है क्योंकि अनुवादक उसके वाच्य अर्थ या वाच्य वस्तुस्थिति का अधिक गहराई से साक्षात्कार कर पाया होता है?"*

शल्यजी की तरफ से ऐसा वक्तव्य आश्चर्यजनक है। यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तुस्थिति या भाव-स्थिति का अधिक गहराई से साक्षात्कार कर सके और अधिक उपयुक्त शब्द भी दे सके तो वह उसी विषय पर एक भिन्न कविता होगी, पूर्व कविता का अनुवाद नहीं। यही बात किसी चित्र-रचना के लिए भी ठीक है और स्वयं शल्यजी द्वारा दिये गए उदाहरण में और भी स्पष्ट है (पृष्ठ 4)। यदि कोई चित्रकार बुद्धत्व की व्यञ्जना में अधिक गहराई से उतर पाता है तो वह बुद्ध का नया चित्र होगा, पूर्वकृत चित्र-रचना का अनुवाद नहीं। एक ही विषय पर लिखी गई कविताएं भावस्थिति की गहराई, व्यञ्जना की सम्यक् अभिव्यक्ति के कारण ही श्रेष्ठ या हीन कोटि की होती हैं। ऐसा स्वयं शल्यजी कहते

भी रहे हैं। तब प्रश्न उठता है कि उन्होंने ऐसा क्यों कहा कि कविता का अनुवाद मूल कविता से श्रेष्ठ हो सकता है? उन्होंने किसी उदाहरण के साथ अपने वक्तव्य को पुष्ट करने का प्रयास भी नहीं किया।

मैंने बहुत पहले शल्यजी की आलोचना में लिखा था कि वे कला में 'रूप' या विन्यास की बात नहीं करते, केवल कथ्य या सार और अर्थ की बात ही उन्होंने की है। शल्यजी जैसे दार्शनिक से यह अपेक्षा सहज ही की जा सकती है। उनका सारा चिंतन **तत्त्व-चिंतन** है, 'अर्थ'-केन्द्रित है। 'अर्थ' या शब्द के अर्थ से संबंध को भी वे बहुत भिन्न तरह से निरूपित करते हैं। किन्तु अभी हमारा विवेच्य विषय यह नहीं है। मुझे लगता है कि कला पर विचार करते हुए 'कथ्य' पर ही बात कहना और रूप-विन्यास की बात ही नहीं करना कला के संप्रत्यय को समग्रता में नहीं लेना है। कला में कथ्य व रूप अवियोज्य ही होते हैं और ऐसा होने से उनकी उत्कृष्टता ही सिद्ध होती है। संभवत: शल्यजी कला के रचनागत गुणों को कौशल मानते हैं, जिसे सीखा जा सकता है। किन्तु ऐसा है नहीं। कला में स्वर-विन्यास या रंग-विन्यास प्रयत्नसाध्य भी है, प्रतिभा की भी अपेक्षा करता है। कलाकार की प्रतिभा कलात्मक बोध की गहराई में उतरने में और उसे सम्यक् अभिव्यक्ति देने दोनों में ही होती है और यह अभिव्यक्ति भाव या विचार का साक्षात्कार कर पाने में, और कला के माध्यम विशेष में उपयुक्त विन्यास कर पाने में निहित होती है।

शल्यजी द्वारा उद्धृत चित्रकार विकास भट्टाचार्य की कठिनाई देखें, जो उन्हें एक मृत बच्चे का चित्र बनाने में अनुभव हुई। वे लिखते हैं "मैं यह चित्र अभी तक बनाना आरंभ नहीं कर पाया हूँ। मैंने इसके लिए सही बिंब का साक्षात्कार पाने के लिए कितनी ही रातों की नींद खोई है। इसमें केवल एक चित्र की रचना करना ही अपेक्षित नहीं है, इसमें ऐसी आकृति की रचना करना अपेक्षित है जो एक ओर नितान्त मर्मान्तक दु:ख में जन्म ले रही हो और दूसरी ओर जो दो अश्रु-प्लावित हृदयों को उनके संपूर्ण जीवन में संबल दे सके।" यह चित्रकार उपयुक्त बिंब नहीं खोज पा रहा, उपयुक्त अभिव्यक्ति का रूप नहीं खोज पा रहा है। यह जानते हुए भी कि उसे क्या बनाना है उसकी सफल कलात्मक अभिव्यक्ति का रूप नहीं देख पाना इस बात को स्पष्ट करता है कि किसी कलाकृति में वस्तुपक्ष और रूपपक्ष घुले मिले होते हैं और एक सफल चित्रकार को भी ऐसी कठिनाई हो सकती है, क्योंकि प्रतिभा का उन्मेष सदैव नहीं होता। कला के अर्थ-वैभव पर शल्यजी ने जितना कहा है, और अपूर्व कहा है, विन्यास पर, रूप पक्ष पर नहीं के बराबर ही कहा है, लगभग गौण मानते हुए उसकी चर्चा ही नहीं की है। अब निर्मलजी का मत यदि रूपाकार के सत्य पर ही केन्द्रित है और इसीलिए अयुक्त है, तो शल्यजी का मत भी कुछ सीमा तक एकांगी कहा जा सकता है। उन्हें लगता है कि 'रूप पक्ष किसी कृति को तभी महान बनाता है जबकि वह किसी महत् वस्तु का व्यंजक हो।' अपने विचार की स्थापना में शल्यजी कलाओं पर चिंतन करते हुए बहुधा काव्य, उपन्यास की चर्चा करते हैं। ऐसा इसलिए कि विषयिता की प्रत्ययात्मक अर्थगर्भिता की बात वहीं सर्वाधिक आसानी से की जा सकती है। चित्रकला में उससे कमतर और संगीत में उससे भी कम, जो सबसे अधिक आकारिक कला है, क्योंकि

वह वस्तु-पक्ष के बिना भी संभव हो सकती है। जो विचार शल्यजी ने कलाओं के रूप-पक्ष को लेकर प्रस्तुत किया है पश्चिमी विचारकों ने वस्तु-पक्ष या कथ्य को लेकर वही कहा है, और इसके उदाहरण रूप में उन्होंने चित्रकला पर विचार किया है।

रोज़र फ्राई और क्लाइव दोनों ही विचारकों ने चित्रकला के रूप-पक्ष को महत् मानते हुए उसके वस्तुपक्ष को न केवल गौण कहा है बल्कि उसे कला के विशद रूप के लिए बाधक कहा है। (द्रष्टव्य - **आर्ट ऐज़ फोर्म** तथा **सिग्नीफिकेंट फोर्म**) उनके अनुसार जिन कलाकारों को अपनी कृतियों में जीवन या जीवन-मूल्यों का सहारा लेना पड़े वे दोयम दर्जे के कलाकार हैं। सच्चा कलाकार रंगों, रेखाओं और आकृतियों के विन्यास मात्र से अपूर्व कला-बोध जगा सकता है। जो ऐसा करने में जितना समर्थ है वह उसी सीमा तक उत्कृष्ट कलाकार है। इससे यह निगमित नहीं होता कि अमूर्त चित्रकला ही चित्रकला है। अवश्य प्रतिरूपात्मक चित्र भी अच्छे चित्र हो सकते हैं, किंतु उनकी कलात्मकता उस विषयवस्तु में निहित नहीं होती जिसे वे चित्रित करते हैं अपितु उस विन्यास, रूपाकार, जिसे क्लाइव 'सिग्नीफिकेंट फोर्म' कहते हैं, में निहित होती है। उनके मतानुसार यही 'रूपाकार' किसी कला-रचना को काल-जयी बनाता है। किसी संस्कृति या देशकाल विशेष में उपजे भाव या विचार अपना अर्थ खो देते हैं, या कहें कि आने वाली पीढ़ियों को संप्रेषित नहीं हो पाते, किन्तु उनके रूप-विन्यास की कलात्मकता बनी रहती है। जो बात यहाँ कलाकार के लिए कही जा रही है वही सहृदय के लिए भी है। किसी कलादीर्घा में प्रदर्शित चित्रों को देखने के बाद 'यदि कोई व्यक्ति उसकी 'विषयवस्तु' पर बात करता है तो वह ऐसा व्यक्ति है जिसे कला के विशुद्ध रूप की पहचान नहीं है। जो कलामर्मज्ञ है वह उसके 'रूपाकार' पर ही ध्यान केन्द्रित करेगा, क्योंकि अपने कलात्मक बोध की सामर्थ्य से वह 'जीवन-मूल्यों' और 'चित्रगत-मूल्यों' में भेद करना जानता है।'

निर्मलजी के उपर्युक्त मत में इसी विचार का निदर्शन है, जहाँ वे कविता में रूपपक्ष को अननुवाद्य मानते हैं और इसलिए कविता के सफल अनुवाद को असंभव मानते हैं।

पश्चिम में चित्रकला की समृद्ध परंपरा रही है और वहाँ कला-विचारकों ने अपनी परंपरा में रहते हुए विचार किया है। रोज़र फ्राई स्वयं एक चित्रकार हैं और कला-आलोचक तथा विचारक भी हैं, जैसे हमारे यहाँ ओंकारनाथ ठाकुर, जो गायक भी थे और संगीत-कला के विचारक आचार्य भी। कलाकार सृजन करते हुए वस्तुतः क्या करता है, कलात्मक बोध को वह कैसे देखता-परखता है, इसे यदि वह विचारक की दृष्टि से कह सके तो उसकी साक्षी नहीं मानने का प्रथम दृष्ट्या कोई औचित्य नहीं है। इस संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता कि ऐसे चित्र हैं जो वस्तुतः कुछ कहते नहीं हैं। ठीक वैसे ही जैसे कोई संगीतकार राग का आलाप करते हुए या किसी धुन का विस्तार करते हुए कुछ कहता नहीं। फिर भी वह कलात्मक अनुभूति जगा सकता है। जुबिन मेहता की सांगीतिक प्रस्तुति जिन्होंने देखी-सुनी है उन्हें अपूर्व कलात्मक बोध का अनुभव हुआ है, हालाँकि यह कहना कठिन है कि वहाँ उन्हें किसी अर्थ का उन्मेष हुआ। विशुद्ध स्वर-विन्यास, रंग-विन्यास या शास्त्रीय नृत्य करते हुए कलाकार की मुद्राएं, संगीत, चित्र या नृत्य को संभव बना सकते हैं, हालाँकि

साहित्य के लिए यह कथन ठीक नहीं है कि किसी साहित्यिक कृति का रूपगत सत्य ही महत्त्वपूर्ण होता है। वहाँ ठीक शल्यजी ने जो कहा वही उचित है कि रूप–पक्ष महत् वस्तु का व्यंजक होकर ही महत्त्वपूर्ण बनता है। विश्व के समग्र साहित्य की कालजयी रचनाएं अपने अर्थ–वैभव से ही कालजयी बनी हैं। उपर्युक्त चर्चा इस दिशा की ओर मुड़ती है कि कलाओं में एकरूपता देख पाना कठिन है। साहित्य से चित्रकला और उसके बाद संगीत-कला वस्तुपक्ष से रूप–पक्ष की ओर बढ़ती दिखाई देती है, जैसाकि संगीत के लिए कहा जाता है कि सभी अन्य कलाएं अपने विशुद्ध आकारिक रूप के लिए संगीत से प्रेरित हो सकती हैं।

दार्शनिक कला के तत्त्व पर, उसके मर्म पर विचार करता है, उसके आदर्श रूप की खोज करता है। 'कला तत्त्वत: जैसी है या होनी चाहिए' पर विचार करता है। शल्यजी को कला का मर्म उसके अनुसन्धेय सत्य में दिखता है। हमने जिन पश्चिमी विचारकों का मत उद्धृत किया है उन्होंने चित्रकला व संगीतकला पर ही कहा है और कला का मर्म उस विशुद्ध कलानुभूति में देखा है जो जीवन से अलग है, विशिष्ट है, उससे उदात्त है। वह अपना संसार स्वयं रचती है जिसे कलाकार रंग या स्वर–विन्यास में अभिव्यक्त करता है। एक विचारक कलाकार का कथन प्रामाणिक हो सकता है, कम से कम एक वैकल्पिक विचार दृष्टि के रूप में उस पर विचार अवश्य किया जाना चाहिए।

यहाँ इन विचार–दृष्टियों की तुलना करना मुझे अभिप्रेत नहीं है। मैंने आरंभ में कहा था कि शल्यजी का कलाविषयक चिंतन अद्वितीय है, बहुत गहरा है। उनकी अपनी तत्त्वमीमांसा में प्रतिष्ठित है। यहाँ मैं मात्र इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहती हूँ कि सभी कलाओं को समेटता कोई भी चिंतन समस्यात्मक ही होगा। वैसे हमारी अपनी विचार-परंपरा में कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण कला–सिद्धान्तों के उदाहरण हैं, जैसे रस–सिद्धान्त, जिसे शल्यजी अमान्य ठहराते रहे हैं और उस सिद्धांत को भी जिसके अनुसार कला में सौन्दर्य की अवधारणा ही महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में कला और सौन्दर्य के संबंध पर उनके विचार स्पष्ट नहीं हैं, क्योंकि वे प्रथम दृष्ट्या परस्पर–विरोधी जान पड़ते हैं। अपनी पुस्तक **मूल्यतत्त्वमीमांसा** में 'कला का अन्वेष्य' शीर्षक लेख में वे कहते हैं "जहाँ सौन्दर्य साध्य होता है, वह कला नहीं शिल्प है।" और 'काव्य तत्त्व' लेख में वे कवि के अन्वेष्य यथार्थ को सत्य, शिव और सुंदर की त्रयी के रूप में देखते हैं। अब ये दोनों बातें एक नहीं हैं। वरना वे 'कला का अन्वेष्य' में कह सकते थे कि 'कला में सौंदर्य सत्य से युक्त होकर ही साध्य बनता है अन्यथा नहीं, मात्र सौन्दर्य ही जहाँ साध्य हो वह शिल्प है।'

'काव्य विषयक सौन्दर्य और साधारणीकरण की अवधारणाओं की समीक्षा' में वे फिर कहते हैं कि 'काव्य में सत्य और सौन्दर्य दोनों ही साध्य होते हैं किन्तु एक ऐसे अर्थ में जिस अर्थ में वे दोनों ही, एक तीसरे तत्त्व शिवत्व के साथ परस्पर अवियोज्य होते हैं।' वे आगे यह भी कहते हैं कि सौन्दर्य केवल कलाओं में ही निरूप्य और उत्पाद्य होता है, दर्शन या शास्त्रों में नहीं। तो अब सौन्दर्य की अवधारणा उनके कला–चिंतन में अंगभूत बनती दिखाई देती है, जो उनकी पुस्तक **मूल्यतत्त्व–मीमांसा** में नहीं है। किन्तु फिर भी 'कला का सत्य'

नामक लेख में 'कला का साध्य सौन्दर्य नहीं होकर किसी और अर्थ में सत्य है।' इन उद्धरणों पर कुछ स्पष्टीकरण अपेक्षित है।

कला का समग्र संसार, जो आज हमारे सामने है इसकी सृजनात्मकता को किसी एक कसौटी से देखना, परखना सैद्धान्तिक रूप से युक्त नहीं जान पड़ता। यह कठिनाई वास्तव में ही है। यही कारण है कि कलाओं के अन्वेष्य रूप में सत्य, सौन्दर्य, रस सभी को देखा गया है और इन पर गहरा विचार भी हुआ है। रस की बात किये बिना भारतीय संगीत को समझना, पाश्चात्य चित्रकला के एक लंबे दौर की कलाकृतियों को, और पाश्चात्य संगीत को सार्थक विन्यास (शल्यजी के अर्थ में सार्थक नहीं) की अवधारणा के बिना समझना या उर्दू शायरी में बाह्य रूप-सौन्दर्य की अद्भुत अभिव्यक्ति को नगण्य समझना (शल्यजी के लिए कला के संदर्भ में सौन्दर्य, नैतिक सौन्दर्य, अर्थ-सौन्दर्य ही है) मुझे समस्याप्रद लगता है। कलाओं के अन्वेष्य एक से अधिक भी हो सकते हैं इसे मानने की सैद्धान्तिक समस्याएं कम हैं, ऐसा मुझे लगता है।

—

**गोष्ठी – 2**

# चित्र एवं सत्य

**राजेन्द्रस्वरूप भटनागर**

क्या कला एवं सत्य में कोई सम्बन्ध है? कलाएँ अनेकविध होती हैं। तब क्या विविध कलाओं को लेकर सामान्य प्रश्न उठाए जा सकते हैं? विशेषकर सत्य को लेकर? सुविधा के लिए मैं अपनी बात चित्रकला तक सीमित रखना चाहता हूँ। क्या चित्र सत्य को दर्शाता है? क्या चित्र के द्वारा चित्रकार किसी सत्य की अभिव्यक्ति करता है?

इस विवेचन में मैं 'चित्र' की संज्ञा को उस प्रकार के चित्रों तक सीमित रखना चाहता हूँ जिन्हें चित्रकार के कथन के रूप में देखा जा सके। ऐसे चित्र वही हो सकते हैं जिन्हें चित्रकार स्वतन्त्र रूप में, अर्थात् बिना किसी बाहरी दबाव अथवा आदेश से प्रभावित हुए, स्वतः स्फूर्त प्रेरणा से अभिभूत होकर रचता है। यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि इस प्रसङ्ग में 'सत्य' का इंगित क्या है। निश्चय ही 'सत्य' का अर्थ अनुरूपता अथवा किसी बाह्य वस्तु या स्थिति से संगति नहीं है। वस्तुतः 'सत्य' चित्र से अन्यत्र कहीं बाहर नहीं होता। चित्र का सत्य चित्र में ही होता है। चित्र का अवलोकन हमें, यानि दर्शक को, एक भिन्न स्तर पर अथवा एक भिन्न लोक में ले जाता है। यह भिन्न स्तर अथवा लोक स्वयं सत्य अथवा यथार्थ का उद्घाटन होता है। इस दृष्टि से यह कहना अयुक्त नहीं होगा कि चित्र एवं सत्य में गहरा सम्बन्ध है। स्पष्ट है, यह बात हर चित्र पर ठीक नहीं बैठेगी। प्रत्येक कथन भी सत्य नहीं होता।

❑❑❑

पुस्तक-समीक्षा

# मुकुन्दजी का कर्म-चिन्तन[1]

कर्म के स्वरूप पर 244 पृष्ठों की इस पुस्तक में जैसा विशद, गंभीर और पैना विचार हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ होगा। इस विचार की दूसरी विशेषता है इसकी शैली। मुकुंदजी की शैली में काव्यात्मकता का पुट रहता है और वह दार्शनिकता की कीमत कम करके नहीं रहता, यह उनके लेखन की अद्‌भुत विशेषता है। इससे बस थोड़ा विस्तार अधिक हो जाता है। किन्तु इससे प्रतिपादन की दुरूहता भी कम होती है।

इस पुस्तक के पहले अध्याय का शीर्षक है—औचित्य-बोध। इसमें वे कर्म-चेतना के स्वरूप-निरूपण से विचार आरंभ करते हैं–''कर्म-चेतना का बीज शिव-प्रवृत्ति में घर करता है जो फल या परिणाम से ऊपर होती है। **गीता** में भी कर्म को फल-निरपेक्ष कहा गया है। पर हम सहज ही धर्म को फल-परिणाम सापेक्ष दृष्टि से देखे बिना भी नहीं रह सकते–कर्म का स्वरूप ही है कि जो प्रस्तुत है उसे वह अन्यथा करता है। हमारा औचित्च-बोध भी फल तक प्रसृत होता ही है–फल-बोध और फल के उचित-शिव, श्रेयस्कर–होने की अपेक्षा इसके होने के वृत्त के भीतर ही आती है; ... पर कर्म के औचित्य-बोध को परिणाम से बाँधा भी नहीं जा सकता।'' (1) यह निरूपण साधारणतः युक्त ही है, और आगे के विवेचन में इसकी तहें खुलने के साथ इसकी युक्तता पुष्ट होती है, किन्तु यदि मीन-मेख निकालने की आदत को यहाँ नहीं रोका जाय तो कहा जा सकता है कि आप 'कर्म' और 'धर्म' शब्द का पर्यायवाची के रूप में प्रयोग कर रहे हैं, अन्यथा अशिव-प्रवृत्ति से, शिव-अशिव-प्रवृत्ति से निरपेक्ष रूप से की गई 'क्रियाओं' को क्या 'कर्म' नहीं कहेंगे? क्रिया के कर्म होने के लिए यह तो अपेक्षा अनिवार्य कही जा सकती है कि क्रिया-निष्पादक में शिव-अशिव के विवेक की योग्यता होनी चाहिए किन्तु यह अपेक्षित नहीं है कि उसकी क्रिया शिव-संकल्प से ही प्रेरित हो। इस योग्यता के आधार पर ही हम मनुष्य और पशु में, या बोध-युक्त मानव और बोध-हीन (पागल) मानव-तन-धारी में भेद करते हैं, क्रिया के शिव होने से नहीं।

---

1. मुकुंद लाठ - **कर्म-चेतना के आयाम**, प्रकाशक-दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर की ओर से राका प्रकाशन, महात्मागांधी मार्ग, इलाहाबाद, 211001, मूल्य-250/-

इस 'छिद्र' की उपेक्षा करने पर यह निरूपण निर्दोष और युक्ति-संगत है। इस विवेचन को आगे बढ़ाते हुए मुकुंदजी धर्म (शिव-संकल्प से किये गए कर्म) और नीति में भेद करते हैं। इस प्रसङ्ग में वे आधुनिक प्रयोग 'नैतिकता' का उल्लेख करते हैं और इसकी अपेक्षा पुराने प्रयोग 'धर्म' को अपनाने का हेतु बताते हैं। यों तो पहले भी 'नीति' शब्द का दोनों अर्थों में प्रयोग होता था–'निन्दन्तु नीति-निपुणाः, यदि वा स्तुवन्तु' में और 'विदुर-नीति' में 'नीति' शब्द का प्रयोग धर्मोचित कर्म-कौशल के अर्थ में ही प्रयोग है, किन्तु 'नीति' शब्द का धर्म-विचार-रहित उपाय-कौशल के अर्थ में भी प्रयोग होता था। इन दो प्रयोगों में व्यामिश्र से बचने के लिए यह ठीक ही है कि 'नीति' शब्द का प्रयोग इस दूसरे अर्थ में ही किया जाय। मुकुंदजी ने इन दो प्रकार के कर्मों में भेद का पर्याप्त विस्तार से विवेचन किया है और यह विवेचन पुस्तक में कई स्थानों पर हुआ है। उनके अनुसार, नीति साध्य को पाने के लिए साधन की प्रापकता को, औचित्य-विचार से निरपेक्ष ध्यान में रखती है जबकि धर्म के लिए साधन का औचित्य उतना ही आवश्यक होता है जितना साध्य का। उनके शब्दों में "कर्म का औचित्य केवल साध्य तक सीमित नहीं किया जा सकता, क्योंकि साधन भी कर्म ही होता है, उसे भी धर्म की–औचित्त्व की–कसौटी से अलग नहीं किया जा सकता। तभी धर्म का सम्बन्ध कर्म के फल या परिणाम से नहीं जोड़ा जा सकता।"(3) मुकुंदजी का यह विवेचन साधारणतः तो ठीक है किन्तु थोड़ा गहराई में जाएँ तो इसमें कुछ परिष्कार की अपेक्षा दिखायी देती है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि साधन का औचित्य क्या साध्य से निरपेक्ष हो सकता है? साधन को क्या आत्मपर्यन्त कर्म कहा जा सकता है? यदि साधन आत्म-पर्यन्त कर्म हो तो **श्रीमद्भगवद्गीता** में युद्ध के आदेश को युक्त नहीं कहा जा सकेगा। महाभारत युद्ध का, या किसी भी युद्ध का, औचित्य-अनौचित्य उसके साध्य से ही नहीं, उसके संभावित परिणाम से भी निरपेक्ष रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता। अर्जुन युद्ध नहीं करने के लिए जो तर्क देते हैं वे इसी आधार पर कि उसके परिणाम हितकर नहीं होंगे। श्रीकृष्ण अर्जुन को उन साधन-कर्मों के परिणाम नहीं देखने को ही कहते हैं, जिसका अर्थ हुआ कि साधन-कर्मों की धर्म्यता अपने परिणामों से नहीं, उनके साध्य से आँकनी चाहिए। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि महात्मा गान्धी ने **गीता** की व्याख्या इसी कारण अहिंसापरक की है, क्योंकि वे भी मुकुंदजी के समान ही, साधन को भी साध्य से निरपेक्ष और आत्मपर्यंत साध्य मानते थे। किन्तु **गीता** की वह व्याख्या युक्त है, मुकुंदजी ऐसा कहेंगे ऐसा मुझे नहीं लगता। किन्तु महात्मा गान्धी के कर्म-सिद्धान्त में एक दूसरा पक्ष है जो साधन में तद्गत उपेयता या साध्यता की अपेक्षा करता है और वह है सत्य। सत्य अर्थात् सत्य-परायणता। श्रीकृष्ण युद्ध को अनिवार्य पाकर युद्ध को स्वीकार करते हैं और यह अनिवार्यता प्रतिपक्ष में असत्य के दुराग्रह से जनित है। महात्मा गांधी की परिस्थिति दूसरी थी। उनके लिए इसके समान स्थिति

पाकिस्तान ने काश्मीर पर आक्रमण करके प्रस्तुत की थी और उसके लिए उन्होंने भारतीय सेनाओं का उपयोग उचित माना था। स्वतंत्रता-संग्राम के लिए भारतीय जन-मानस में आत्म-बल का संचार करना आवश्यक था, जो आत्मा के जगने से ही उत्पन्न हो सकता था, और वह जागृति शस्त्रों के साथ मार-काट मचाने से नहीं, आत्मा को सत्य के प्रति आग्रही बनाने, देह पर प्रहार होने पर भी विचलित नहीं होने आदि से ही आ सकती थी। सशस्त्र विद्रोह का मार्ग भी तभी सफल हो सकता है, अन्यथा सशस्त्र प्रतिरोध तो हमने मुसलमानों का भी किया था और 1857 में अंग्रज़ों का भी किया था, और मुस्लिम दल भी इस समय आतंकवाद द्वारा वही कर रहे हैं। इस सबमें कोई औचित्य-विचार, धर्म-विचार कुछ नहीं है, इसलिए उचित साध्य के लिए उचित साधन की बात भी नहीं है। केवल एक अंध जैव प्रेरणा है, जैसे शेर या भेड़िये अपने क्षेत्र में दूसरे शेर या भेड़िये को देखकर करते हैं वैसे ही एक राजा या जन-समुदाय अपने क्षेत्र में आकर अधिकार जमाने वाले राजा या जन-समुदाय का प्रतिरोध करता है। मनुष्य सब क्रिया-व्यापारों को औचित्य के साथ जोड़कर भी देखता है, इसलिए इस 'उल्लंघन' को भी 'अनुचित' विशेषण दे देता है, अन्यथा इसका मूल रूप जैव ही है। गांधीजी ने इसे वास्तव धर्म्यता का रूप देने का प्रयत्न किया था, उसे उस रूप में ही देखना चाहिए, धर्म्य साध्य के लिए धर्म्य साधन के रूप में नहीं। साधन की साध्य-सापेक्षता के लिए हमारे साधारण व्यवहार से बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं-ना समझ बच्चे का ध्यान बटाने के लिए झूठ बोलने को अनुचित नहीं ठहराया जा सकता, रोग-निवारण के लिए कष्टकर उपचार को अनुचित नहीं ठहराया जा सकता, किसी संकट को टालने के लिए किसी तात्कालिक उपाय को, जो अपने आप में उचित नहीं हो, अपनाने को अनुचित नहीं ठहराया जा सकता, आदि। स्वयं मुकुंदजी द्वारा **धर्म-संकट** पुस्तक में उदाहृत श्री कृष्ण द्वारा अपनाये गये उपायों को अनुचित नहीं कहा जा सकता। यह सही है कि धर्म्य साध्य के लिए अपनाये गये साधनों की धर्म्यता का ध्यान रखना चाहिए, किन्तु इस धर्म्यता का आधार कर्त्ता के संकल्प की शिवता ही हो सकती है, कोई बाह्य कसौटी नहीं। जहाँ तक नीति को धर्म-निरपेक्ष रूप में परिभाषित करने का प्रश्न है, उसे इसी रूप में युक्त कहा जा सकता है कि वहाँ साध्य भी धर्म-विचार से निरपेक्ष ही होता है। जैसे कोई राज्य अपने स्वार्थ के लिए दूसरे राज्य को हानि पहुँचायें, कोई व्यक्ति अपने हित-साधन के लिए दूसरे के हिताहित के विचार के बिना कोई उपाय करे। साधारणत: हमारा परस्पर दैनंदिन का व्यवहार इसी प्रकार चलता है। यहाँ तक कि हम पूजा-पाठ तक इसलिए करते हैं कि ईश्वर हमारे दुष्कर्मों के लिए हमें दंड नहीं दे। यह पूजा-पाठ भी धर्म-निरपेक्ष नीति ही कहा ज़ा सकता है। किन्तु बहुत-सी ऐसी स्थितियां व्यक्तियों और समाजों के जीवन में होती हैं जिनमें साध्य और साधन या उपाय के सम्बन्ध में शुभाशुभ या उचितानुचित का निर्णय सरल नहीं होता। सुभाषचन्द्र बोस

और भगतसिंह के साध्य महात्मा गांधी से भिन्न नहीं थे किन्तु साधन भिन्न थे। अब, महात्मा गान्धी के साधन जबकि धर्म-विचार से ही निर्धारित थे, सुभाष और भगतसिंह के साधन सरलता से धर्म-विचार से निरपेक्ष नहीं कहे जा सकते, क्योंकि वे औचित्य-अनौचित्य की उपेक्षा कर कोई कार्य नहीं कर रहे थे। जैसे भगतसिंह मुस्लिम या नक्सली आतंकवादियों के समान जन-साधारण या साध्य से असम्बद्ध व्यक्तियों को हानि पहुँचाने वाला कोई कार्य करने को तैयार नहीं थे। आतंकवादी इस विचार की पूर्णत: उपेक्षा कर, बल्कि उस उपेक्षा को ही साधन के रूप में अपनाकर, साध्य को सिद्ध करने की योजनाएं करते हैं, इसलिए उनके साधनों या नीतियों को अधर्म्य कहा जा सकता है, जबकि साध्यों को असंदिग्ध रूप से अधर्म्य नहीं कहा जा सकता। यों 'मरता क्या नहीं करता' उक्ति भी साधन-साध्य-विषयक धर्म-संकट और उसमें निर्णय की दुरूहता की ही द्योतक है। अस्तु, इस सब परिस्थिति पर मुकुंदजी ने पर्याप्त गहराई और पैनेपन से विचार किया है।

धर्म और नीति पर विचार के बाद मुकुंदजी ने कर्म के विभिन्न रूपों पर विचार किया है–कवि-कर्म, नृत्य-कर्म, विचार-कर्म, भाषा-व्यवहार आदि। किन्तु इन 'क्रियाओं' को कर्म कहना चाहिए या नहीं, यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है। ये संकल्प-मूलक नहीं होतीं, यद्यपि ये किसी साध्य को लक्षित करके ही की जाती हैं–कविता यदि कोई कला-सर्जन की प्रेरणा से करता है और इसके द्वारा आत्मोत्कर्ष सिद्धि फलित होती है तो यह क्रिया धर्म्य भी कही जा सकती है, इस क्रिया से समाज को भी उत्कर्ष-लाभ होता है और संस्कृति समृद्ध होती है, इसीसे समाज कवि का आदर करता है। किन्तु यह सब काव्य-रचना को 'संकल्प' नहीं बनाता, ये कवि के लिए काव्य-रचना के प्रयोजन नहीं होते। इससे भी अधिक यह बात विचार पर और उससे भी अधिक भाषा-प्रयोग पर लागू होती है। भाषा-प्रयोग तो हम कविता करने और विचार करने में भी करते हैं, तब क्या काव्य-रचना और विचारण को एक साथ दो कर्म कहा जाय? मुकुंदजी इस समस्या से अनवगत नहीं हैं, जैसाकि उनकी निम्न व्याख्या से स्पष्ट है : वे कहते हैं–"विचार के अपने अन्तर्निविष्ट औचित्य की बात इस प्रश्न को ध्येय रख कर नहीं उठायी जा सकती कि विचार करना ही उचित है या नहीं! यह प्रश्न हमारे औचित्य-बोध को दूसरी दिशा में ले जाता है। यह प्रश्न हम तब उठाते हैं जब किसी और क्षेत्र के औचित्य को, भाव या धर्म के औचित्य को, प्रधान मानकर चलते हैं। या यों कहें कि यह प्रश्न यह पूछ रहा है कि ज्ञान, भाव, कर्म, अध्यात्म जैसे पुरुषार्थ के बृहत्-क्षेत्र में कौन-सा अपने-आप में अनुसरणीय है, कौन-सा नहीं? पर औचित्य की बात-विचार के भीतर से भी उठती है। विचार को हम अपने आप में अन्वेष्य और पुरुषार्थ मानकर चलें तो भी विचार के अपने औचित्य की बात वैसे ही कर सकते हैं जैसे कर्म के औचित्य की।" (4)

यहाँ विचार के औचित्य के प्रश्न के मुकुंदजी ने दो पक्ष बनाये हैं–पहला, जहाँ विचार, भाव, श्रद्धा आदि में से किसी के अतिशयता में अनुसरण की, इस अनुसरण से बनने वाले जीवन–रूप की, बात हो। जैसे सूरदास के गोपी–उद्धव–संवाद में गोपियां उद्धव के उपदेश का इसी आधार पर तिरस्कार करती हैं, जयशंकर प्रसाद ने **कामायनी** में श्रद्धा, तर्क और कर्म के तीन परस्पर व्यावर्तक लोक बनाकर उनके अनुसरणों की अवांछनीयता दिखायी है, एक प्रकार से श्री अरविन्द ने भी **मानव–चक्र** (ह्यूमन साइकल) पुस्तक में संस्कृतियों के ऐसे ही एक–पक्षीय अनुसरणों की अवांछनीयता दिखायी है। वहाँ विचार, भाव या श्रद्धा के औचित्य का प्रश्न एक के क्षेत्र में दूसरे के अतिलंघन का, या एक के अतिशयता में अनुसरण का प्रश्न हो सकता है। इसका कोई स्पष्ट अर्थ नहीं बनता। वैज्ञानिक या दार्शनिक, या विचार के किसी अन्य रूप का अन्वेषी यदि उस अन्वेषण का अतिशयता में अनुसरण नहीं करेगा तो वह जन–साधारण ही रहेगा, इसी प्रकार ऐसे में तुलसीदास का यह वचन कि 'जाके प्रिय नहीं राम–वैदेही, तजिये ताहि कोटि वैरी सम जदपि परम सनेही' अनुचित हो जायगा। जैसा कि हम जानते हैं, ऐसी अतिशयताओं का आदर ही किया जाता है–गुरु नानक की महिमा में यह बताया जाता है कि वे गेहूँ तोलते हुए 13वें सेर पर पहुँचकर 'तेरा' में खो गए और गेहूं को भगवान का मानकर उसके लिए ही सारा तोलते चले गए। ऐसी अतिशयता से रहित 'सन्तुलित' जीवन तो जन–साधारण का ही होता है। जहाँ तक दूसरे पक्ष की बात है, वहाँ औचित्य की कसौटी वही होती है जो किसी भी कर्म की होती है–उसकी धर्मानुकूलता या प्रतिकूलता। 'चोरी कैसे की जाय' इसमें भी 'विचार' होता है, 'अमुक के की जाय या नहीं?' इसमें भी विचार होता है। इस विचार को उसके विषय के कारण अनुचित कहा जाता है स्वयं में विचार–कर्म के कारण नहीं। किन्तु औचित्य का यह प्रश्न कवि–कर्म, नृत्य–कर्म, दर्शन–कर्म आदि के सम्बन्ध में कैसे हो सकेगा? किन्तु इससे अलग यहाँ 'कर्म' शब्द के प्रयोग के औचित्य का प्रश्न ही होगा–इन्हें 'कर्म' कहना कैसे ठीक है?

इसके बाद मुकुंदजी ने कर्म और कर्मेन्द्रियों में सम्बन्ध का विवेचन किया है और ठीक ही कर्म को आन्तरबोध से जोड़ा है। इन्द्रियां तो क्रिया निष्पन्न करती हैं, वह क्रिया कर्म तो आन्तर बोध से ही बनती है। आन्तरबोध का यह भाव और अभाव ही मनुष्य और पशु को भिन्न करता है। इसके अनन्तर उन्होंने कर्म के स्वरूप और औचित्य–बोध पर विचार किया है। कर्म का क्रिया से भेद करते हुए वे कहते हैं– ..."क्रियामात्र हो तो कर्त्तृत्व की बात ही नहीं उठेगी। किन्तु कर्म क्रिया को अपने भीतर रखता है, उसके बिना कुछ कर्म नहीं हो सकता। किन्तु तब कर्म में कर्मेन्द्रियों के योग का प्रश्न भी आ जाता है–कर्म में कर्मेन्द्रियों का क्या स्थान या भूमिका है?" किन्तु कर्म में क्रिया को अनिवार्य मानने पर विचार, कविता आदि कर्म कैसे रहेंगे? नृत्य को भी कर्म कैसे

कहेंगे? क्योंकि उसमें हाथ का उपयोग कुछ पकड़ने या हटाने के लिए और पैर का उपयोग चलने या मारने के लिए नहीं होता, लय-ताल की अभिव्यक्ति के लिए होता है।

दूसरे अध्याय—'भीतर-बाहर और उपाय-लोक' में उन्होंने कर्मेन्द्रियों के स्वरूप पर विचार किया है। इसमें वे चेतना के स्वातंत्र्य और उपेय तथा उसके उपाय दोनों में शिवता की अपेक्षा की बात करते हुए कहते हैं कि कर्म का व्यवहार से भी अनिवार्य सम्बन्ध होना चाहिए! उनके शब्दों में–"धर्म-बोध का लक्ष्य अगर अर्थ और काम को औचित्य के अनुरूप साधना है तो कर्म का व्यवहार से सम्बन्ध अनिवार्य है। यह व्यवहार ऐसी क्रिया कहा जा सकता है जो परिणामलक्षी, परिणाम को लाने में कुशल हो। सो, यह व्यवहार क्रिया मात्र नहीं बल्कि उपाय-क्रिया होता है।" (20) किन्तु इस व्यवहार में दो कोटियां आकर मिलती हैं–चेतना और जड़ की–"इसे अन्तर और बाह्य का सम्बन्ध कहिये या चेतन और जड़ का, या शरीर और मन का, या कार्य-कारण-अनिबद्ध स्वतंत्र चेतना का और कारण-कार्य-परतंत्र बाह्य घटना-जगत् का सम्बन्ध कहें ... इसे लेकर एक पहेली सी जागती है।"(21) इस पहेली पर, या प्रश्न पर कहें, उन्होंने इस अध्याय में विस्तार से विचार किया है। इसमें वे एक तीसरी कोटि बनाते हैं, जिसे वे भीतर-बाहर, चेतन-जड़ के बीच की तीसरी कोटि कहते हैं ओर उसे 'उपाय-जगत्' का नाम देते हैं–"भाषा की ध्वनि या लिपि होती है, व्याकरण होता है, विचार की युक्ति, नृत्त का कारण–ये बाहर अभिव्यक्त होते हुए बाहर को रूप देते हैं।" (21) तब फिर वे इन्द्रियों को भी इस तीसरी कोटि में रखते हैं। इन्हें वे चेतना के बाहर के लोक से संपर्क, बाहर के लोक को साधने के उपाय के रूप में देखते हैं, इन्हें वे 'सेतु' भी कहते हैं। इस पर उन्होंने इस अध्याय में बहुत विस्तृत और सूक्ष्म विचार किया है। किन्तु 'भीतर, बाहर और मध्य' को देखने की यह दृष्टि युक्त है, यह कहना कठिन है। पहले तो भाषा को ही देखें। ध्वनि और लिपि को तो मध्य-लोक में नहीं रखा जा सकता, ये बाहर के लोक में ही रहेंगी और व्याकरण को भाषा के और युक्ति को विचार के किसी बाह्य और आन्तर के मध्य रखना भी कठिन जान पड़ता है, किन्तु तब, उन्हें भीतर या बाहर भी नहीं रख सकते। ये इनसे अभिन्न होते हैं। हमने अन्यत्र[2] इन्द्रियों को जगद्भाव से प्रवर्तित चित् ही कहा है और इस प्रकार इनमें कोई 'भीतर, मध्य और बाहर' नहीं देखा है। मुकुंदजी का यह द्वैतवादी प्रतिपादन आत्म-चेतन चेतना के स्तर पर तो कुछ सीमा तक युक्त प्रतीत हो सकता है किन्तु अनात्मचेतन जैव स्तर पर कैसे युक्त बनेगा? आत्मचेतना के स्तर पर भी चिद्वृत्ति के रूप में इन्द्रिय को कहाँ रखेंगे? और चित्त की इन्द्रिय-वृत्ति, उसके जैविक स्तर और भौतिक (बाह्य दैहिक) स्तर में कहाँ तत्त्व-भेद की रेखाएं खींचेंगे? वास्तव में ऐसी बात नहीं है कि मुकुंदजी इस द्वैतवाद

2 द्रष्टव्य : चित् की आत्म-गवेषणा में अध्याय-4

को मानते हैं, इस पदावली का प्रयोग उन्होंने केवल उत्प्रेक्षात्मक रूप से ही किया है, क्योंकि मानव–चेतना के, या कहें आत्मचेतना के स्तर पर, जो स्तर मुकुंदजी के विचार का प्रस्थान–बिन्दु है, यह पदावली ही युक्त दिखायी देती है। हम–चित्तत्त्व, पुस्तक भौतिक तत्त्व, को उठाने के लिए हाथ–कर्मेन्द्रिय—चिदचित्तत्त्व का उपयोग करते हैं, पुस्तक देखने के लिए आँखें खोलते और पुस्तक की ओर उन्मुख होते हैं, चाहने पर आँखें बंद भी कर सकते हैं और हाथों को पुस्तक की ओर बढ़ाने से अपने को रोक भी सकते हैं, आदि। इसी वस्तुस्थिति में कर्म और उसकी पूर्वापेक्षा के रूप में चेतना के स्वातंत्र्य का कुछ अर्थ बनता है। मुकुंदजी ने इस अध्याय में इस वस्तुस्थिति का बहुत सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है, जो अन्यत्र दुर्लभ होगा। यहाँ दो उदाहरण देना चाहूंगा। पहले वे ज्ञानेंद्रिय और कर्मेन्द्रिय में भेद कर कर्मेन्द्रिय को इन्द्रिय कहने में कठिनाई दिखाते हैं और तब उसे इन्द्रिय कहने का औचित्य प्रतिपादित करते हैं। वे कहते हैं–''ज्ञानेन्द्रिय –भोगेन्द्रि – इनमें इन्द्रिय का का सेतु–रूप स्वीकृत ही है—चेतना को इनके माध्यम से ज्ञान या भोग होता है। कर्मेन्द्रिय को भी इस दृष्टि से देखें तो उसका इन्द्रियत्व उभर कर आता है। 'निष्पादन' का जैसा साक्षात्, 'सक्रिय' अनुभव हमें कर्मेन्द्रियों के प्रयोग में होता है वैसा ज्ञानेन्द्रिय–या भोगेन्द्रिय–में नहीं होता।'' (30) ''कर्मेन्द्रिय के व्यापार में हम कर्म का एक अवधेय व्यावृत्त लक्षण भी देख सकते हैं। ज्ञान और भाव से भिन्न, उसकी वृत्ति भीतर से बाहर की ओर है–उसका व्यापार भीतर के स्वातंत्र्य को बाहर रूप देना चाहता है, जहाँ पारतंत्र्य का साम्राज्य फैला जान पड़ता है। कर्मेन्द्रिय स्वरूप से ही भीतर को बाहर लाने का माध्यम है।'' (31) यह ठीक है, किन्तु अनात्मचेतन पशु में भी कर्मेन्द्रिय–व्यापार होता है और उसमें भी कुछ क्रियाओं में 'अन्यथाकरण' ही लक्षित होता है, कुछ में मनुष्य में भी लक्षित नहीं होता, जैसे आहार और मैथुन में, किन्तु पाशव चेतना में स्वातंत्र्य और भीतर से बाहर की वैसी बात नहीं होती। कुछ अन्यथाकरण चेतना द्वारा कर्मेन्द्रियों के बिना और सहज रूप से भी घटित होते हैं, जैसे इन्द्रिय–विषय के अध्यवसाय–विषय के रूप में, 'भौतिक वस्तु' के उपादान के रूप में, ध्वनि के भाषा–प्रतीकों के रूप में रूपान्तरण में मुकुंदजी ने भाषा और विचार को भी 'कर्म' कहा है और उस पर विस्तृत चर्चा की है किन्तु वह ठीक नहीं कहा जा सकता, जैसाकि हम ऊपर संकेत कर आये हैं। बोलने और लिखने को आप कर्म कह सकते हैं, किन्तु वह भाषा–बाह्य प्रसङ्ग से, जैसे किसी का 'बिन अवसर की' या 'सुखद' अथवा 'दुःखद' बात करना, किन्तु भाव या विचार का भाषा–रूप लेना वैसा ही होता है जैसे इन्द्रिय और आवेगादि के विषय का अध्ययवसाय–विषय का रूप लेना, जो चेतना 'करती' है किन्तु तब भी उसे 'कर्म' नहीं कहा ज़ा सकता। यदि आप कहते हैं तब 'कर्मेन्द्रियों' का होना व्यर्थ हो जाएगा। तब किसी के वध करने और वध करने की इच्छा करने मात्र में अभेद हो जायगा। यहाँ कहा जा सकता है, और कहा

जाता भी है, कि वैसी इच्छा करना भी दोष है। यह ठीक है, किन्तु यदि इच्छा को भी 'कर्म' मान लेंगे तो किसी का वैसा व्यक्ति होना–सूर और कबीर होना, बुद्ध और गान्धी होना और रावण या ओसामा बिन लादन होना–उस होने मात्र में 'कर्म' हो जायगा। यह सही है कि व्यक्तियों के वैसा होने, जैसे वे होते हैं, को भी उनका आद्य संकल्प कहा जा सकता है, हमने स्वयं अन्यत्र ऐसा ही कहा है।[3] **गीता** में इसे 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' शब्दों में कहा गया है, किन्तु वह दूसरी बात है। इसमें अपने को संकल्प से जो हम तदनुसार नियुक्त करते हैं, वह कर्म कहा जा सकता है और जो हम संकल्पवान् होते–संकल्प–कर्त्ता होते हैं उसे कर्म नहीं कहा जा सकता, भले ही उस कर्त्तृत्व को, उस वैसा होने को जो हम होते हैं, भी संकल्प–मूलक और इस प्रकार संकल्प–कृत ही कहा जाय।

तीसरे अध्याय का शीर्षक है —'जड़–चेतन, कर्मेन्द्रिय और भाषा।' जैसाकि शीर्षक से संकेतित होता है, इसमें जड़–चेतन के द्वैत और इनके बीच सम्बन्ध के स्वरूप पर विचार होना चाहिए। इस अध्याय को हम कुछ उद्धरणों द्वारा सार–रूप में प्रस्तुत कर उन पर कुछ संक्षिप्त टिप्पणियां करेंगे। इस अध्याय के प्रथम अनुच्छेद से ही इस द्वैत और इन दो को जोड़ने वाले तीसरे तत्त्व, जिसे मुकुंदजी सेतु कहते हैं, उनके स्वरूप का अनुमान हो जाता है। वे कहते हैं–"मानव–चेतना अपने बाहर उन्मुख होती है, पर यह आत्मचेतन भी होती है, *अपने भीतर ही बाहर–भीतर की बुनावट बुनती हुई अर्थ–सन्धान में प्रवृत्त होती है;* प्रामाणिकता की सार्थकता की खोज जहाँ आत्मचेतना के भीतर से अपने आप उठती है, जागती है।" (39) इसमें रेखांकित वाक्य, जो हमारे द्वारा रेखांकित किया गया है, ध्यातव्य है। इससे यह आपादित हो सकता है कि भीतर–बाहर वास्तव में भीतर–बाहर नहीं है बल्कि चिद्गत ही भीतर–बाहर है। तब भी अर्थ और उसकी प्रामाणिकता के, अर्थ की विषयिता और विषयता के स्वरूप के सम्बन्ध में सन्देह नहीं रह जाता कि इनकी बाह्यता और आन्तरता किस प्रकार की है। किन्तु मुकुंदजी का विषय यहाँ इनके तत्त्व–मीमांसीय स्वरूप की विवेचना नहीं है बल्कि कर्म है, जिसका विवेचन वे इस विषयक तत्त्व–मीमांसीय दृष्टि को ऊह्य रखकर करते है।

इसके बाद आत्मचेतना पर विचार करते हुए वे कहते हैं–"आत्मचेतना अगर औचित्य का–और यों गहरे अर्थ में प्रमाण का–अधिष्ठान या बीज कहला सकती है तो आत्मोन्मुख होकर अपना भी प्रमाण ढूँढती है। उसके होने का प्रमाण क्या?" यह प्रश्न स्पष्टतः अप्रश्न है, जिसे वे तुरन्त ही देखते हैं। किन्तु इसके स्वरूप के सम्बन्ध में प्रश्न हो सकता है–इसका अस्तित्व कैसा है? किन्तु वे यह प्रश्न नहीं उठाकर इसके होने के औचित्य का प्रश्न उठाते हैं। पर इस प्रश्न का क्या अर्थ हो सकता है?–चेतना या

3. **सत्ताविषयक अन्वीक्षा**, अ. 11-12

आत्मचेतना के होने के औचित्य के प्रश्न का क्या अर्थ हो सकता है? पीछे के उद्धरण में मुकुंदजी ने औचित्य के प्रश्न का बीज आत्मचेतना के होने में देखा है, किन्तु स्वयं आत्मचेतना के होने में यह प्रश्न कैसा? हमें नहीं लगता कि यह प्रश्न हो सकता है।

इसके आगे उन्होंने इन्द्रियों और उनके विषयों के स्वरूप पर विचार किया है और विषयों के दो प्रकार देखे हैं–ज्ञान-विषय और भोग-विषय। तब इनकी विषयिता और विषयता के स्वरूप और भेदों पर विचार किया है। यह सब विचार बहुत सूक्ष्म और गहरा है। यहाँ विभिन्न इन्द्रियों की विषयिता के रूप में भेद का उनका विवेचन उल्लेखनीय है। यह भेद हमारे यहाँ पहले बौद्धों और नैयायिकों ने किया है–प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी के रूप में। प्राप्यकारी वे इन्द्रियां हैं जो विषय को 'पा' कर जानती हैं, जैसे त्वक्, घ्राण और जिह्वा और अप्राप्यकारी वे जो विषय को दूर से जानती हैं, जैसे आँख और कान।'' इस पर वे कहते हैं, और ठीक ही, कि ''ज्ञान के प्रसङ्ग में यह पुराना भेद विशेष कुछ कहता नहीं दिखता। ... पर भोग की दृष्टि को आगे रखें तो इन्द्रियों का यह स्वभाव-भेद पते का भेद हो जाता है। जो इन्द्रियां प्राप्यकारी कहलाती हैं वे भोग-निमग्न होने में स्वभाव से प्रवण दिखती हैं–छू लेने और छूकर स्वाद लेने में प्रकट ही भेद है। पर अप्राप्यकारी इन्द्रियों के संगीत, चित्र ... जैसे शिल्प न केवल भोग-प्राप्य ही नहीं होते बल्कि ऊर्ध्वतर चेतना-ग्राह्य हो जाते हैं।'' इस विवेचन के क्रम में वे इन्द्रियों की शरीरनिष्ठता और उससे भिन्नरूपता के प्रश्न पर भी विचार करते हैं और कहते हैं कि ये शरीर की अवयव ही होती हैं, इन्द्रियों के बिना शरीर को शरीर कहने का अर्थ ही क्या? ... ''पर फिर भी सोचिये कि जिसे हम वस्तु-जगत् कहते हैं– और शरीर को भी जिसमें गिनते हैं वह जगत् भी बहिरिन्द्रियों के बिना अकल्पनीय है।'' (45) किन्तु वे जिस देह को इन्द्रिय के विषय रूप में जगद्गत देख रहे हैं वह इन्द्रियों का भी समावेशी है–आँख, कान, हाथ,पैर ही नहीं, मस्तिष्क तक भी भौतिक देह के घटक अंग–अवयवी के अवयव–हैं, अन्यथा विषय-जगत् की विषयी इन्द्रियों के समान देह भी विषयी ही होता है ... देह की इस विषयिता का हमने कई स्थानों पर विस्तार से विवेचन किया है। द्रष्टव्य है कि अनात्मचेतन चेतना : पाशव चेतना : के लिए अपनी देह विषय नहीं हो सकती, उसके लिए वह : और वास्तव में वही एक : आत्मा होती है, देह विषय केवल आत्मचेतन-चेतना के लिए ही होती है, और उसके लिए इन्द्रियां, अन्तःकरण, बुद्धि, महान् और पुरुष भी विषयी होने के साथ विषय भी होते या हो सकते हैं। ऐसा नहीं है कि ऐसा मुकुंदजी नहीं मानते, केवल वे जिस सन्दर्भ में बात कर रहे हैं, उसमें उन्हें इस प्रकार बात करना ही उपयुक्त लगा। किन्तु उनका इस संदर्भ की सीमा का उल्लेख नहीं करना भ्रामक हो सकता है।

आगे उन्होंने कारण-कार्य-बोध और काल-बोध की बात की है और दोनों को कर्त्तृत्व में प्रतिष्ठित किया है। (45-47) ''यदि हम बाह्य घटनाओं के केवल द्रष्टा हों

तो उन घटनाओं में कोई कारण-कार्य-सम्बन्ध नहीं बनेगा, कारणता का बोध केवल हमारी निष्पादन-क्रिया और उससे निष्पादित परिणाम से ही प्रतिष्ठा-लाभ करता है।'' यह एक सीमा तक ठीक है-बाह्य घटना-क्रम की व्याख्या प्रतीत्यसमुत्पाद रूप में भी हो सकती है, इसी दृष्टि से अनुमान आगमनात्मक :साधारणीकरण-रूप: मे ही देखा जाता है, निगमनात्मक रूप में नहीं। घटनाओं में जनक-जन्यता-सम्बन्ध मानने पर उसमें अनिवार्यता आ जायगी। बौद्धों और ह्यूम ने इसी आधार पर कारण-कार्य-सम्बन्ध का जनक-जन्य अर्थ में निषेध किया और काँट ने इसे मनोकल्प (कैटेगरीज़ ऑफ अंडरस्टेंडिंग-जगद्बोध की कोटियों) के रूप में प्रतिष्ठा दी। इसके विपरीत, हमारे इच्छा करने पर हमारी कर्मेन्द्रियों में क्रिया प्रवर्तित होती दिखती है और कर्मेन्द्रिय से बाह्य वस्तुओं में क्रिया-फल घटित होता दिखता है। किन्तु हमारा पैर पत्थर से टकरा जाने पर हमारे पैर में जो चोट लगती और दर्द होता है उसमें भी हमें जनक-जन्यत-सम्बन्ध का बोध ही होता है और इसी प्रकार पत्थर के पत्थर से टकराने से उनके टूटने में भी यह बोध होता है। वास्तव में कारण-कार्य-सम्बन्ध की बौद्धों और ह्यूम द्वारा वास्तविकता निषेध का मूल उनकी तत्त्व-मीमांसा और ज्ञान-मीमांसा में है और काँट द्वारा उसके पुनरुद्धार का मूल भी उसकी तत्त्व-मीमांसा में ही है। बौद्ध तत्त्व को क्षणिक मानते हैं और तत्त्वों में सम्बन्ध को अनुक्रमात्मक : सन्तानात्मक :। इसी प्रकार ह्यूम ऐन्द्रिय संवेद को ही ज्ञापक मानते हैं। इस प्रकार कारण-सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रियों का विषय है या नहीं, यह इस पर निर्भर करता है कि ज्ञानेन्द्रिय-विषय से हम क्या समझते हैं। किन्तु कर्म साक्षात् कार्य का निष्पादक होता है, इसलिए उसमें कारण-कार्य-सम्बन्ध स्वरूपगत ही रहता कहा जा सकता है। मुकुंदजी कारण-कार्य-सम्बन्ध को पारतंत्र्य का क्षेत्र कहते हैं-प्रकृतिगत। किन्तु कर्म को वे स्वातंत्र्य का क्षेत्र कहते हैं, सभी कहते हैं। किन्तु अधिकांशत: तो मानव-कर्त्ता भी प्रकृति से परिचालित ही होता है, संस्कार, वासनाएं, काम और अन्य उद्वेग यही उसका शासन करते हैं। वह स्वतंत्र कब होता है, इस पर मुकुंदजी ने संपूर्ण पुस्तक में कहीं विचार नहीं किया, यद्यपि यह विचार उनके सारे विवेचन में ऊह्य है।

चौथे अध्याय का शीर्षक है-'नियम, विधि और उपेय।' इसमें मुकुंदजी का मुख्य विषय 'विधि' है, जो उपेय को साधने में स्वतंत्रत: उपाय-प्रयोज्य की वाचक है, नियम उपाय का परतंत्र रूप है। नियम को मुकुंदजी प्राय: प्राकृतिक घटनाओं की धारक व्यवस्था के रूप में देखते हैं, विधि के साथ अपूर्व विशेषण का प्रयोग करते हैं और अपूर्व से उनका अर्थ है जो किसी बाहरी कारण से निर्धारित नहीं होकर स्वयंभू, अपनी निर्धारक, आत्म-विधातृ है। ऐसी विधि केवल आत्मचेतना के साध्य की साधन, उसके उपेय की उपाय ही हो सकती है। किन्तु द्रष्टव्य है कि नियम केवल प्राकृतिक ही नहीं होते, जैसा उनके इस अध्याय में उनके प्रतिपादन में निहित है, मनुष्य भी सामाजिक

व्यवहार के लिए नियमों की रचना करता है। भाषा, जिसकी चर्चा मुकुंदजी ने विधि के रूप में की है और जो मनुष्य द्वारा वैयक्तिक और सामाजिक किसी भी रूप में रचित नहीं होती, बल्कि उसके विचार और सामाजिक व्यवहार के क्रम में स्वतोद्भूत होती है, वह नियम–बद्ध होती है। मुकुंदजी ने नियम के इस रूप पर भी विचार किया है और उसे विधि कहा है। (77) भाषा का वैचित्र्य यह है कि यह आत्मचेतना के व्यापार की अतिक्रान्त आधार है। यह विचारात्मक चित्त के प्रवर्तन की प्रक्रिया की उसी प्रकार आधार होती है जिस प्रकार आवेगात्मक चित्त जीव के आवेगात्मक प्रवर्तन का आधार होता है। ऐसे में इसे यदि विधि कहा जाय तो यह उस अर्थ में विधि नहीं होगी जिस अर्थ में इस शब्द का साधारण प्रयोग होता है–व्यक्ति या समुदाय या समाज द्वारा कुछ निष्पन्न करने के लिए अपनाया गया उपाय–जैसे ओषध बनाने की विधि, कपड़ा बुनने की विधि, पूजा करने या यज्ञ करने की विधि। ये सब विधियां भी इस अर्थ में अपूर्व कही जा सकती हैं कि यद्यपि ये परंपरा से प्राप्त कौशल ही होते हैं किन्तु इनका मानव–चेतना को आद्य साक्षात्कार अपूर्व ही होता है। ये इस अर्थ में भी अपूर्व कही जा सकती हैं कि इनके प्रयोग में व्यक्ति कभी भी आभ्यासिक व्यवहार छोड़कर सृजनात्मक हो सकता है। वास्तव में मानव–चेतना के स्वातत्र्य की बात भी जो की जाती है वह इसी अर्थ में कि मनुष्य में यह योग्यता है, चाहे पर्याप्त दुर्लभ, कि वह अपनी शिक्षा और संस्कारों से ऊपर उठकर वस्तुतथता का साक्षात्कार कर सकता है। किन्तु अन्यथा मनुष्य भी संस्कारों, प्राकृतिक चित्त–वृत्तियों, अभ्यासों आदि के अधीन ही देखता, सोचता और करता है। प्रस्तुत अध्याय का पहला वाक्य है–"हमारा आत्मचेतन स्वातंत्र्य–बोध सहज ही औचित्य–बोध पालता है।" तीसरा वाक्य है–(यह) "ऐसी प्रक्रियाओं में रूप लेता है जो स्वातंत्र्य को पारतंत्र्य की धरती पर स्थान दें–'घर' दे सकें। ... रूप के ये व्यापारमय लोक अर्थ–साधना के लोक होते हैं जहाँ हमारा स्वतंत्र औचित्य–बोध अपने उपेय साधता है। इसीलिए इन्हें पुरुषार्थ के लोक भी कहा जा सकता है–यहाँ स्वातंत्र्य अपना तंत्र बुनता है। इन्हीं लोको को मैं उपाय–लोक भी कह आया हूँ।"(67) इन वाक्यों को ध्यान से देखें तो कुछ कठिनाइयां दिखायी देती हैं–यहाँ स्वातंत्र्य–बोध का क्या अर्थ है? साधारणत: ऐसा कोई बोध हमें नहीं होता। कहा जा सकता है कि हम आत्मचेतन सहजरूप से ही होते हैं और यह चेतना स्वरूपत: स्वतंत्र होती है। किन्तु यह ठीक नहीं है, यह अपवादरूप से ही कभी संस्कारों, आवेगों, प्राकृतिक प्रवृत्तियों से स्वतंत्र होती है। यह ठीक है कि औचित्य–बोध का मूल मनुष्य की आत्मचेतना में है, और यह आत्मचेतना इस अर्थ में स्वातंत्र्य में प्रतिष्ठित होती है कि यह अपनी सब वृत्तियों का विषयकरण और विवेचन कर सकती है, किन्तु साधारणत: ऐसा होता नहीं है। फिर, औचित्य–बोध का प्रसङ्ग आत्म–स्वरूप–कल्पना में है, जो कल्पना हमारी चित्त–वृत्तियों और व्यवहार के लिए कसौटी का कार्य करती है, किन्तु आत्म–बोध

केवल इस कल्पना तक ही सीमित नहीं होता। तीसरे वाक्य में ऐसी ही व्यापकता अभिप्रेत है–'पारतंत्र्य की धरती' कौन सी? यों तो देह और चित्त-वृत्तियां भी पारतंत्र्य की धरती ही हैं और यह धरती ही औचित्य-विवेक की धरती है, किन्तु मुकुंदजी पारतंत्र्य की धरती भौतिक कारण-कार्य-व्यापार में देखते हैं। इस प्रकार कपड़ा बनाने, मकान बनाने में हमारी रचनात्मक प्रतिभा स्वतंत्र होती है जबकि रूई आदि कारण-कार्य-परतंत्र होते हैं। द्रष्टव्य है कि यह धरती :रूई, ईंट-पत्थर आदि : यदि कारण-कार्य-परतंत्र नहीं हों तो वह धरती हमारे कर्त्तृत्व-स्वातंत्र्य के लिए बहुत विषम हो जायगी। रूई जब चाहेगी सूत बनने को राज़ी होगी और जब चाहेगी तब नहीं होगी। कह सकते हैं कि नृत्य में, संगीत में, भाषा बोलने में, कपड़ा सीने में हमारी देह और इन्द्रियां भी पारतंत्र्य की धरती ही बनाती हैं। ठीक है, किन्तु इनमें किसी में भी औचित्य का प्रसङ्ग नहीं होता, सम्यक्ता, कौशल आदि का ही प्रसङ्ग होता है। 'औचित्य' शब्द का प्रयोग आचरण और व्यवहार को लेकर होता है, जिनमें प्रथम में धर्मानुकूलता कसौटी होती है। जैसे किसी वाक्य-प्रयोग में व्याकरण की त्रुटि होने पर उसे 'अनुचित : धर्म-विरुद्ध : प्रयोग नहीं कहा जायगा, 'अशुद्ध', 'ग़लत' आदि कहा जायगा जबकि व्याकरण में शुद्ध किन्तु अन्य के सम्मान को आघात पहुँचाने वाले वाक्य को अनुचित कहा जायगा–'नीकी पै फीकी लगै बिन अवसर की बात' में यही भेद लक्षित है।

अगले छठे अध्याय का शीर्षक है 'उपेयता'। आरंभ में हम मुकुंदजी के लेखन की, विशेषतः इस पुस्तक में, विशेषता कह आये हैं, वह इस अध्याय में और इससे अगले अध्याय में, अपने प्रकृष्टतम रूप में दिखायी देती है–अवधारणाओं का उद्‌गृहीत रूप में विवेचन-व्याख्या के विपरीत उनके 'चरित्र', उनकी 'जीवनी' का संवेदनापूर्ण विवरण। अब 'उपेय' का अर्थ बहुत साधारण और स्पष्ट है–हम कोई कर्म करते हैं तो कोई लक्ष्य रखकर, किसी उद्देश्य से, उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपनी क्रियाओं का जो नियोजन करते हैं वह उपाय कहा जाता है और उनका लक्ष्य उपेय। विभिन्न कर्मों के विभिन्न उपाय होते हैं और उनके विभिन्न उपेय। इस विभिन्नता से, विशेषों से, उद्‌गृहीत सामान्य को उपायता और उपेयता कहेंगे, दर्शन के विचार का विषय यह उद्‌गृहीत सामान्य ही होता है। मुकुंदजी ने इस अध्याय में इसी पर विचार किया है, किन्तु विभिन्न प्रकार के कर्मों के 'जीवन के चरित' के रूप में 'विमर्श' के इस रूप को केवल मूल में पढ़ कर ही देखा जा सकता है, यहाँ हम कुछ उद्धरणों द्वारा उसको निदर्शित करने का प्रयत्न करेंगे।

इस अध्याय में उन्होंने पुनः नियम का विवेचन किया है : चरित्र-चित्रण किया है और पर्याप्त विस्तार से–जहाँ नियम ही कर्म के 'उपाय' बनते हैं। इसमें खेल : क्रीड़ा : को उन्होंने मुख्य उदाहरण बनाया है। पर खेल क्या? उसकी वे कोई परिभाषा नहीं देते, क्योंकि वह उसका एक उद्‌गृहीत रूप होगा, इसलिए वे खेलों की बात करते हैं–

विभिन्न प्रकार के खेल और उनमें नियमों के विभिन्न प्रकार। वह सारा विवरण भी पठनीय है–किस प्रकार कुछ खेलों में नियम बहुत स्पष्ट और महत्त्वपूर्ण होते हैं और कुछ में नहीं–जैसे ही होते हैं। किन्तु ये नियम कारण-कार्य के प्राकृतिक नियमों-जैसे नहीं होते। फिर भाषा के नियम भी होते हैं, जिनका उल्लेख हम पिछले अध्याय में भी कर आये हैं, काव्य और कला के नियम भी। अब दार्शनिक सामान्यत: इस वैभिन्न्य की उपेक्षा कर इन सबके सामान्य की बात करता है, मुकुंदजी ऐसा नहीं करते, वे उनके वैभिन्न्य को उसके चरित्र-चित्रण के साथ प्रस्तुत करते हैं। यहाँ विचार, खेल और काव्य में नियम के रूप का निरूपण देखें–''युक्ति-तर्क को विचार का नियम भी कहा जाता है—युक्ति-तर्क के भी मूल में स्वतोविरोध जैसे किसी नींव-भूत नियम की बात की जाती है। पर जो भी हो, युक्ति में एक अनिवार्यता की शक्ति होती है जो मुझसे स्वतंत्र होती है, मुझे बाध्य करती है। कारण-कार्य से साधर्म्य है युक्ति का। पर स्वातंत्र्य की भूमि पर। युक्ति मेरी युक्ति-प्रज्ञा को बाध्य करती है जो युक्ति से स्वतंत्र भी जागती है, युक्ति का प्रयोग करती है।''

''युक्ति-नियम बड़े आत्मचेतन होते हैं—विचार ही अपने भीतर झाँक कर नियम उभारता है। स्वयं उनसे बँधता है, पर उनकी आत्मचेतना में जागता हुआ, अपने आपको उनसे मुक्त भी देखता है। ... इस अर्थ में भाषा के नियमों की तरह हैं विचार के नियम। कार्य-कारण की तरह वे अनुवृत्ति-प्राण नहीं होते—भाषा की तरह ही नये-नये उन्मेष को, वैविध्य को घर देते हैं। भाषा में घर करते हैं पर भाषा से अलग एक अपना स्वतंत्र स्थान बनाते हैं–जो हमारे स्व में रहता हुआ भी स्व से निर्बंध होता है। स्व में घर करता है विचार, स्व का नहीं होता। आत्मचेतना के ऐसे आयाम का वहन करता है जो लोकैषणा की सुलभ-साधारण जिजीविषा के हान-उपादान के आगे झुकता नहीं। उसे ही झुकाने की प्रेरणा रखता है। ... पर विचार के विपरीत खेल-चेतना के निय यम जान ही नहीं पड़ते, उनमें बाध्यता का भाव जैसे होता ही नहीं।....

''पर खेल-चेतना में उस सार्थकता का, अर्थ की भूमा का, अगाध का—या कहिये आत्मचेतना के अपने सत्य का—बोध नहीं होता जो विचार-चेतना में होता है...।''

इसी क्रम में आगे वे कला की बात करते हुए कहते हैं–''कला-कर्म भी (विचार के समान) सार्थकता के सन्धान में कुछ करता है तो कुछ छोड़ता भी है। यह विवेक ही का काम है। पर विवेक यहाँ उन्मेष-मग्न होता है, किसी अर्थमय अपूर्व की ओर उन्मुख, जिसके अ-रूप को पहचानना चाहता है। रूप में सीधे आविर्भूत करना चाहता है। इसके विपरीत बुद्धि-कर्म में प्रतिभा का उन्मेष भी प्रश्न में बसा होता है, परीक्षण-दृष्टि पालता है जो अवयवी को साक्षात् नहीं अवयवों में बाँट-परखकर उतारना चाहती है। बुद्धि तो प्रतिभा पर संशय भी करती है। उसका निषेध भी कर सकती है (हालाँकि

विचार-कार्य के भीतर ही कला में प्रश्न, संशय कला के बाहर ही होते हैं। कला का विवेक अवयवी-बोध के ऐसे बीज की ओर उन्मुख होना साधता है जो अवयवों में स्वत: अंकुरित-सा होता चले। ...''

उपाय, उपेय, उपयोक्ता यहाँ स्वातंत्र्य के व्यापार में अपनी अलग पहचान खोते हुए निमग्न से लगते हैं। रूढ़ि, नियम को समेटता, इनसे ऊपर उठता, विधि का उन्मेष या प्रतिभा-व्यापार विधि के मर्म के रूप में उभरता है। ऐसे व्यापार के रूप में उभरता है जहाँ व्यापार की अपनी गति, अपना प्रवाह प्रधान हो उठते हैं। उपयोक्ता और उपाय मानो उपेय के ही अथाह से तैरते आते दिखते हैं। ... पर प्रतिभा पालता हुआ चेतना का स्वतंत्र विधि-व्यापार नीति से स्वरूपत: भिन्न है—यह मानो हमारा व्यापार नहीं होता, हममें व्यापृत होना चाहता है—हम उसे आधार देते हैं। व्यापार हममें ही व्यापृत नहीं होता, हमें भी व्यापृत करता है, अपने में ढालता चलता है। हमें अपने साथ चरिष्णु करता हुआ चरिष्णु होता है। अपने से अलग किसी फल की ओर बढ़ता नहीं लगता। अपने ही अर्थ के अगाध में उतरता हुआ, अपनी ही अपूर्वता में बढ़ता हुआ जान पड़ता है। चेतना के जिन स्वतंत्र सार्थक व्यापारों में हम विराट् का इंगित पाते हैं, वे मानो अपने भीतर ही अपना उपेय पालते हैं। क्योंकि उपेय यहाँ निश्चित निर्धारित कुछ नहीं होता। किसी परिणाम जैसा नहीं होता जहाँ व्यापार का अंत हो और कुछ फल जैसा आगे आये। हम उपेय का एक निर्धारण-सा करते तो हैं, कहते हैं विचार का लक्ष्य ज्ञान होता है। ज्ञान का सत्य, कला का लक्ष्य रस या सौन्दर्य, कर्म का धर्म... पर ऐसा कहना तय कुछ नहीं करता। सत्य क्या, सौन्दर्य क्या, धर्म क्या, ये दिशा-संकेत जैसे ही कुछ उभरते हैं—ऐसी दिशा जिसका छोर आकाश में लीन, निश्चिह्न-अप्रकेत जान पड़ता है।'' (108-110) यहाँ हमने बहुत लंबा उद्धरण दिया है, क्योंकि यहाँ जो 'कहा' गया है उसका वाच्य कर्म-चेतना के स्फुट विचार-ग्राह्य उद्गृहीत प्रत्यय नहीं हैं बल्कि प्रत्यय-ग्राही चेतना का वह संपूर्ण जीवन है जिसमें कर्म-प्रवृत्ति, संवेदना, उद्विग्नता सभी संश्लिष्ट रहते हैं) इसीलिए यहाँ सत्य, सौन्दर्य और धर्म सब छोर-रहित, निश्चिह्न और अप्रकेत हैं। शुद्ध प्रत्ययों की एकस्तरीय चेतना के ग्राह्य अर्थ ऐसे नहीं होते, और न उस स्तर पर ऐसा शब्द-प्रयोग विहित होता है। यही कारण है कि मुकुन्दजी ने कर्म के स्वरूप-विवेचन में कर्त्तव्याकर्त्तव्य, धर्माधर्म या नैतिक-अनैतिक की बात कम की है, भाषा-चेतना, कला-चेतना, विचार-चेतना और क्रीड़ा-चेतना की बात अधिक की है और वह भी इन सबकी एक-साथ। इसमें किसी सिद्धान्त-प्रतिपादन के जैसी बात नहीं बनती, इसे द्वन्द्वात्मक तर्क का रूप देकर सही-ग़लत की बात की जा सकती है किन्तु वह इस निरूपण की आत्मा के प्रतिकूल होगी। तब भी यहाँ उदाहरणार्थ हम इस अध्याय के आरंभिक कुछ निरूपणों का सैद्धान्तिक रूपान्तरण प्रस्तुत करना चाहेंगे, जो अपेक्षाकृत सरल है, किन्तु यह है रूपान्तर ही। पहला ही वाक्य है-''हमने देखा कि

कला–व्यापार में काल और देश दोनों एक अन्तरङ्ग चेतन–व्यापार के अंग हो जाते हैं। इसका कारण कई चिन्तक इस व्यापार को आधारतः ही भीतर का व्यापार कहते रहे हैं। यों देखें तो कृतियों का बाह्य रूप अपने आपमें सत् नहीं, छाया या उपाधि जैसा कुछ हो जाता है।'' अब यह बहुत जटिल प्रश्न है जो यहाँ उठाया गया है। एक पेड़ का चित्र लें। इस चित्र का देश चित्रित पेड़ के अनुरूप नहीं होता। यह बाहरी पेड़ से दो प्रकार से भिन्न हो सकता है—एक तो दोनों के आकार और उसके अवयवों के दैशिक सम्बन्धों में केवल परिमाण का भेद हो और दूसरा कि चित्रकार पेड़ की आकृति ही बदल दे। इन दो रचनाओं को हम दो देश–रचनाएं कह सकते हैं और दोनों देशों को चेतना–व्यापार के देश कह सकते हैं। किन्तु तब प्रश्न होगा कि बाहरी पेड़ का देश क्या चेतना–व्यापार से स्वतंत्र देश होता है? यदि आँखें नहीं हों तो क्या पेड़ का देश होगा? आँखें होने पर भी क्या सब दूरियों से उसका एक ही आकार रहता है? इसके आगे, यदि हमारा देश-बोध ही भिन्न हो तो पेड़ की एक आकृति का क्या होगा? चींटी की आँखें नहीं होतीं, इस कारण उसका देश–बोध स्पर्श और गतिमूलक होगा। इस सबके लिए क्या कहा जाय? फिर चित्र का देश पेड़ के देश के समान ही अपना भी देश होता है जो उतना ही 'बाह्य' होता है जितना पेड़ का, उसकी 'आन्तरता' की बात उसके बाहरी पेड़ की प्रतिकृति होने से होती है। ... ये मुकुंदजी के निरूपण के सैद्धान्तिक रूपान्तरण से सम्बद्ध प्रश्न बनते हैं, जिनको लेकर दर्शन के इतिहास में विवाद की सुदीर्घ परंपरा है। किन्तु मुकुंदजी के लिए यह सब प्रसंगोपात्त नहीं है। इसी प्रकार एक और निरूपण देखें–''यहाँ (कला और कर्म में) सौन्दर्य–दृष्टि, धर्म–दृष्टि, ये सहज हैं। ऐसी दृष्टियां सार्थकता के घेर में भी स्वरूपतः आती हैं। इनको अवस्तु–निष्ठ कहने का भी कोई अर्थ नहीं। एक दृष्टि–विशेष को ही वस्तुतंत्र कहना दृष्टि–विशेष का आग्रह ही हो सकता है—सत् को चेतना–निरपेक्ष रखने में कोई युक्ति नहीं।...'' (85–86) यह प्रश्न बहुत जटिल है और बहुत विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है। किन्तु हम यहाँ कुछ आधारभूत स्थापनाओं द्वारा इसे संक्षेपतः प्रस्तुत करेंगे। यह वस्तु–तंत्रता क्या होती है? यह अध्यवसायात्मक (जज्मेंटल) चेतना की ग्राह्य विषय होती है, इस चेतना के बिना कोई वस्तु और वस्तु–तंत्रता नहीं होती। यह दृष्टि भी काम–क्रोधादि वासनाओं से उपहित हो सकती है—मित्र और शत्रु समान 'वस्तुएं' नहीं होते, न नाले की गंदगी और गुलाब एक सी 'वस्तुएं' होते हैं। काम–क्रोधादि से अनुपहित दृष्टि को वस्तु–तंत्र और उपहित दृष्टि को विषयि–तंत्र कहा जाता है। यही बात सौन्दर्य और धर्म–दृष्टि के सम्बन्ध में कही जा सकती है। ये भी उपहित और अनुपहित हो सकती हैं। किन्तु सत्ता की बात एक और तरह से भी की जा सकती है—मर्यादा पुरुषोत्तम राम के द्वारा दृष्ट धर्म और मंथरा के द्वारा दृष्ट धर्म में वस्तु–तंत्रता और विषयि–तंत्रता का भेद कहा जा सकता है, किन्तु इन दोनों दृष्टियों का मेरे द्वारा तटस्थ विवेचन समान रूप से वस्तु–तंत्र

या दृष्टि-दोषग्रस्त कहा जा सकता है। यह दृष्टि-दोष विषयिनिष्ठताजन्य भी हो सकता है—पूर्वाग्रहग्रस्त होने पर, और निराग्रही होने पर तर्क-दोषग्रस्त भी हो सकता है। आदि।

किन्तु ये टिप्पणियां मुकुंदजी के निरूपणों के सैद्धांतिक भाषा में रूपान्तरण के बाद ही संभव हैं। उनकी सारी रचना भिन्न धरातल पर है।

अगले छठे अध्याय का शीर्षक है 'उपाय (और नृत्य-विधि)'। किन्तु इसकी विषय-वस्तु का 'उपाय' के साधारण अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसाकि हमने पीछे भी कहा, मुकुंदजी का आधार-शब्दों का प्रयोग उन शब्दों के प्रचलित अर्थों से पर्याप्त भिन्न है। किन्तु अपने इन भिन्न प्रयोगों या अर्थों को वे परिभाषित भी नहीं करते। वे प्रयोग के क्रम में ही अपने अर्थ को प्रकट करते हैं। पीछे हमने 'औचित्य', 'कर्म' और 'विधि' शब्दों का उल्लेख किया था। इस अध्याय में भी ये शब्द आधार-शब्दों के रूप में प्रयुक्त हुए हैं और इन्हीं भिन्न अर्थों में हुए हैं। जैसे 'विधि' शब्द का प्रयोग वे नृत्य के साथ भी करते हैं, प्रायः ही करते हैं—नृत्य-विधि। इसमें उनका अर्थ 'नृत्य का ढंग' से नहीं होता बल्कि भिन्न होता है। उस अर्थ का संकेत इस अध्याय में भी मिलता है, लगभग परिभाषा की तरह ही। जैसे वे कहते हैं-''पिछले अध्याय में हमने देखा कि किसी प्रयोग-परंपरा को अक्षुण्ण रखने के हम जो उपाय साधते हैं—नियम बनाकर उसके साध्य-रूपों को परिनिष्ठित करते रहते हैं, वहाँ नियम बनाने के व्यापार में ही, हमारी नियम-चेतना नियम से अलग तटस्थ खड़ी रहती है, अपने आपको नियम से स्वतंत्र पाती है। अपने किसी सार्थक सृजनों में *अपने आपको उस रूप-चेतना के अगाध की ओर उन्मुख पाती है जो नियम की परिधि में घिर नहीं सकता। यह रूप-चेतना मानो हमें निमित्त बनाती हुई हममें हमारे माध्यम से अपनी अभिव्यक्तियां साधती चलती है-इसे ही हमने 'विधि' का व्यापार कहा है।*''(111) यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'रूप-चेतना का अगाध' क्या? नियम-चेतना में स्वातंत्र्य और अगाध क्यों नहीं? वह स्वातंत्र्य और अगाध नियम-चेतना से बाहर ही क्यों मिलता है? रूप-चेतना भी बंध-चेतना क्यों नहीं? रूप आखिर अरूप के निर्बन्ध को बाँधने से ही बनता है। 'विधि के व्यापार' में ये विशेषताएं कहने में क्या युक्ति है? इसी प्रकार कुछ बनाने : जैसे व्यञ्जन बनाने, घड़ा बनाने-आदि के अनुसार वस्तुओं-उपकरणों और कार्यों के नियोजन करने को विधि कहा जाता है, दूसरी ओर लेख लिखने, कविता रचने, व्याख्यान देने, सामाजिक सम्बन्धों का निर्वाह करने आदि में कार्य-नियोजन को विधि नहीं कहा जाता। जबकि प्रथम में अगाध और स्वातंत्र्य आदि की वैसी बात नहीं होती जैसी दूसरे में होती है। किन्तु मुकुंदजी ने 'विधि' शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया है उसमें विधि का यही रूप है। 'नृत्य' के साथ 'विधि' का प्रयोग तभी युक्त ठहरता है। इसी प्रकार 'उचित' शब्द है। 'उचित' शब्द मूलतः आचरण के व्यवहार की परंपरा से संगत होने या धर्म की अपेक्षाओं से सम्यक् होने के लिए प्रयुक्त होता है, कभी-कभी

शब्द-प्रयोग की सम्यक्ता या युक्तता के लिए भी इस शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है, किन्तु किसी वस्तु के ठीक बनने-नहीं बनने, युक्ति के ठीक होने-नहीं होने, छन्द में मात्राओं के ठीक प्रयोग होने नहीं होने आदि के लिए इस शब्द का प्रयोग साधारणतः नहीं होता। किन्तु मुकुंदजी ने इस शब्द का इसी प्रकार व्यापक प्रयोग किया है। यही बात 'कर्म' के लिए भी कही जा सकती है। 'कर्म' का मूल प्रयोग धर्म के सन्दर्भ में ही होता है, कालिदास के श्लोकांश—'शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्' में भी कर्म का इसी अर्थ में प्रयोग है, किन्तु जैसाकि हमने पीछे भी देखा, वे विचार तक के लिए 'कर्म' शब्द का प्रयोग करते हैं। यहाँ हम इस अध्याय से एक उद्धरण देना चाहेंगे–"हम जिसे साधारणतौर पर और सही अर्थ में कर्म कहना चाहते हैं–उसे प्रवृत्ति मात्र से, चेतना के विचार जैसे अन्तः कर्म से व्यावृत्त करते हुए कर्म कहना चाहते हैं—वह केवल चेतना की अन्तःचेष्टा की बात नहीं होती—उसमें एक बाह्य कर्म-भूमि की भी अपेक्षा रहती है। यह भूमि हमें कर्मेन्द्रियों के माध्यम से उपलब्ध होती है, केवल ज्ञानेन्द्रियों के द्वार से नहीं।" (120) यहाँ उन्होंने कर्म शब्द के व्यापक और सीमित प्रयोग में भेद किया है। किन्तु वास्तव में यह सीमित प्रयोग भी अतिव्यापक ही कहा जा सकता है। उदाहरणतः हमारा चलना और बैठना कर्मेन्द्रिय-व्यापार हैं, खाना-पीना, ये भी कर्मेन्द्रिय-व्यापार हैं, ऐसे ही और व्यापार हैं। साधारण अर्थ में इन्हें कर्म कहा जा सकता है किन्तु कर्म के विशेष अर्थ में कर्म नहीं कहा जाता। जैसे चलना साधारणतः कर्म नहीं कहा जाता किन्तु 'दृष्टिपूतं न्यसेत्पादम्' में यह इस शब्द के विशेष अर्थ में ही कर्म है। इसी प्रकार विचार है। 'विचार' को साधारणतः कर्म नहीं कहा जाता। मुकुंदजी ऊपर यह व्यावर्तन ठीक ही कर रहे हैं। हम किसी को मारने का विचार करते हैं किन्तु मारते नहीं तो इसे कर्म नहीं कहा जाता। विचार को क्रियान्वयन से रोकना आत्म-चेतन चेतना में ही संभव होता है और यह रोकना 'हानोपादान-बुद्धि' मूलक भी हो सकता है और सदसद् विवेक-बुद्धिमूलक भी। इन दोनों ही रूपों में यह 'धर्म' की व्याप्ति में आता है, प्रथम में यह 'अधर्माचरण' कहा जा सकता है और दूसरे में 'धर्माचरण।' इस प्रकार मुकुंदजी ने ऊपर जो व्यावर्तन किया है वह यहाँ नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार **गीता** में भी 'तेरा कर्म में ही अधिकार है, फल में नहीं' कथन में 'कर्म' शब्द का एक अर्थ में प्रयोग है और नहीं चाहते हुए भी हम प्रकृतिजन्य गुणों से कर्म में निरत रहते हैं' इसमें कर्म शब्द का दूसरे अर्थ में प्रयोग है। किन्तु जब हम देखते हैं कि योग इस 'प्रकृति' को ही वश में करने की साधना है, तो हमारी सब वृत्तियों—चैत्त, ऐन्द्रिक और दैहिक—की क्रियाएं 'कर्म' हो जाती हैं और इनका अपनी सहज गति में व्यापार हमारा प्रमाद। इस प्रकार 'कर्म' यहाँ 'संकल्प' का पर्यायवाची हो जाता है और आत्मचेतन चेतना का अवधान-अनवधान पूर्वक, सहजभाव से या संकल्पपूर्वक किया गया या 'हो गया' सब व्यापार

'कर्म' हो जाता है–वैसे ही जैसे अपनी दुष्प्रवृत्तियों पर वश नहीं होने से किया गया दुष्कर्म 'दुष्कर्म' कहा जाता है और हमें दंड की पात्रता से मुक्त नहीं करता।

किन्तु द्रष्टव्य है कि हमारे इस विवेचन का प्रसङ्ग दूसरा है और मुकुंदजी के विवेचन का प्रसङ्ग दूसरा। इस कारण यह मुकुंदजी के विवेचन का दोष-दर्शन नहीं होकर केवल प्रसंगान्तर की चर्चा करना है। मुकुंदजी का प्रसङ्ग कर्म-चेतना की सृजनात्मकता, उसका अर्थों के संसार में उन्मेष है, इसीलिए उन्होंने इस अध्याय में नृत्त-विधि की बात की है और समाज को सामूहिक नृत्य से उपमित किया है। इसमें उन्होंने विज्ञान और टेकनॉलोजी की बात की है और उनमें भी प्रतिभा के उन्मेष को महत्त्व दिया है। विज्ञान में विमर्श, व्याख्या और प्रयोग की समन्वित प्रक्रिया का विस्तार से विवेचन कर वे कहते हैं–''अन्ततोगत्वा विज्ञान-यात्रा हमारे लिए एक निराली, गुत्थिल पर रोमांचक उपाय-यात्रा है। इस यात्रा के मर्म को समझना हो तो बात कारण-कार्य की नहीं प्रतिभा की करनी चाहिए जो इस यात्रा की सच्ची सारथि है। प्रतिभा कभी कार्य-कारण में नहीं सिमट सकती। विज्ञान की यात्रा में कोई सार्थकता है तो वह यह नहीं कि यह जगत् की कार्य-कारण-निष्ठता सिद्ध करती है बल्कि यह कि यह जिज्ञासा का एक अद्‌भुत प्रयास है जो कार्य-कारण को उपाय बनाता है।'' (130) इसी प्रकार नृत्त पर विचार करते हुए वे कहते हैं—''नृत्त में शरीर की हमारे मन से सीधी डोर है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि डोर की पहुँच मन और मन के कामना-संकल्प तक ही सीमित है। डोर अन्तर में और गहरे उतरती है—प्रज्ञा के अगाध तक उतरने की संभावना रखती है। तभी ऊपर मैंने शिव के नृत्त का उल्लेख किया। नृत्त में हम वासना को ही नहीं वासना से कहीं उदात्त, चेतना के स्वातंत्र्य में जागते भाव-बोधों को भी शरीर में साक्षात् रूप लेते देख सकते हैं। इस रास्ते शरीर की डोर को सीधे प्रज्ञा तक जाते देख सकते हैं।'' (132)

इसके आगे उन्होंने सामूहिक कर्म का नृत्य में रूपक देखा है, जिसके मूल द्रष्टा के रूप में उन्होंने कन्फ्यूशियस का उल्लेख किया है। अब यों तो पूरे समाज को भी सामूहिक कर्म-व्यवस्था कह सकते हैं किन्तु संस्थाओं—परिवार, विद्यालय, सेना आदि में इस व्यवस्था का अधिक स्फुट रूप दिखता है। इसके सम्बन्ध में वे कहते हैं–''कन्फ्यूशियस की धारणा थी कि मानव-सम्बन्धों का गहरा परस्पर भाव व्यक्तियों के परस्पर के प्रति समंजस भावनाओं की संगति से बनता है। ... वे नृत्य और संगीत का युगनद्ध देखते थे–एक ही अभिन्न व्यापार के अंतरंग (संगीत) और बहिरङ्ग (नृत्य) के रूप में, या यों कहें कि शील (भाव-बोध में परस्पर भाव की आंतरिकता) और तदनुरूप आचरण के रूप में। ... उनकी इस खोज को हम उस विधि की खोज भी कह सकते हैं जो बुद्धि के परे स्थित किसी अनवद्य चेतना को किसी सिद्ध रूप में अवतरित कर दे—विधि को ऐसी **नीति** में बाँध ले जो निर्धारित नियम में ढाली जा सके।''

(132-33) इस उद्धरण के अन्तिम वाक्य में अवांतरत: 'विधि' का उनका अर्थ ध्यातव्य है। अब जहाँ तक समाज या संस्थाओं को नृत्य के रूपक से देखने का प्रश्न है, उसमें साम्य दूर की कौड़ी लाने जैसा ही है। संगीत और नृत्य का प्राण ही छंद है, उसमें थोड़ा भी छंद-भंग उसे विद्रूप कर देता है जबकि संस्था की रचना में एक व्यवस्था होती है, जिसे मुकुंदजी के शब्दों में नियम-मूलक कह सकते हैं, छन्द-मूलक तो दूर, विधि-मूलक भी नहीं कह सकते। समाज तो बहुत सी व्यवस्थाओं की एक शिथिल सी व्यवस्था होती है जिसमें अन्त:संगति की कोई बात नहीं होती, केवल सह-अवस्थिति होती है, जिसमें कोई परस्परता नहीं होती, केवल एकस्थता होती है, जैसे भारत में परमाणु-संयंत्रों के साथ ग्रामोद्योगों की और कारों के साथ बैलगाड़ी की। अवश्य इसमें कार-यांत्रिकी का विकास क्रमश: बैलगाड़ी को विस्थापित करेगा, किन्तु यह सम्बन्ध तो विसंगति का ही है, न कि संगति का। इसी प्रकार समाज में स्वामी-भृत्य, राजा-प्रजा आदि 'स्वर' होते हैं जो परस्पर सापेक्ष तो होते हैं किन्तु ये कोई लय बनाते हैं, ऐसा कहना ठीक नहीं होगा। भृत्य की विद्यमानता भृत्य की बाध्यता है यद्यपि स्वामी की निर्भरता है, राजा की विद्यमानता प्रजा में परस्परता आरोपित करने के लिए होती है जो उसमें सहज नहीं होती। और समाज तथा संस्था इन सब 'विवादी स्वरों' के साथ ही रहते हैं और यह मानव-समाज की मधुमक्खी-समाज से विशिष्टता है, जो उसमें गति की कारक और सृजनात्मकता की हेतु होती है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि इस अध्याय का शीर्षक 'उपाय' है, इसमें उपाय का क्या अर्थ है? इसका उत्तर हो सकता है कि इसमें मुकुन्दजी का उद्देश्य 'उपाय' की परिभाषा कर उसके अर्थ की व्याप्ति और व्यावृत्ति दिखाना नहीं है बल्कि यह दिखाना है कि कैसे कर्म में मानव-चेतना उपायों के आविष्कार में सृजनात्मक होती है। उपाय के साथ कोष्ठक में 'नृत्य-विधि' रखने से यह बात और स्पष्ट हो जाती है।

सातवें अध्याय का शीर्षक 'अन्य' है। 'अन्य' का यह अर्थ 'अन्य मानव-व्यक्ति' है। यों अन्य व्यापक अर्थ में वह सब होता है जो 'मेरे' से भिन्न है। और गहरे जाएँ तो व्यक्ति अपने में भी अपने से अन्य कुछ से युक्त होता है। पर साधारण अर्थ में 'अन्य' का अर्थ 'मेरे' समान अन्य मानव-व्यक्ति ही होता है। यह अन्य उतना ही स्वयंसिद्ध होता है जितना 'मैं' स्वयं-सिद्ध होता है, मनोवैज्ञानिकों का तो कहना है कि व्यक्ति का अस्मिता-बोध भी अन्यों के बीच ही विकसित होता है, मुकुंदजी ने भी इसका उल्लेख किया है। किन्तु इस बात को जाने भी दें तो भी अन्य की सत्ता में सन्देह के लिए कोई अवकाश नहीं बनता। किन्तु यह अवकाश भौतिक वस्तुओं की और अन्य जीवों की सत्ता में सन्देह के लिए भी नहीं बनता। किन्तु दर्शन इन अन्य उपस्थितियों की सत्ता को तत्त्वत: सिद्ध नहीं पाता, उसे इसके लिए प्रमाण चाहिए। साधारणत: प्रत्यक्ष किसी भी वस्तु की सत्ता के लिए प्रमाण होता है। किन्तु दार्शनिक प्रत्यक्ष को सहजसिद्ध रूप में

स्वीकार नहीं कर पाता, यद्यपि जीव मात्र यह सहज भाव से करता है। क्यों? इसके उत्तर के लिए दर्शन में बहुत से मत-मतान्तर हैं जिनकी चर्चा हम यहाँ नहीं कर सकते। इनमें सबसे मूलगामी मत पाश्चात्य अनुभववाद को कहा जा सकता है जिसका आरंभ डेकार्ट के सन्देह में देखा जा सकता है। डेकार्ट अपने सर्वग्रासी सन्देह के ग्रास से 'अस्मिता' को मुक्त देखता है–'मैं प्रत्यक्षगम्य वस्तु मात्र पर सन्देह कर सकता हूँ किन्तु सन्देहकर्त्ता के रूप में अपने अस्तित्व पर सन्देह नहीं कर सकता।' किन्तु उसके पीछे लॉक से आरंभ अनुभववाद ने इस 'अस्मिता-बोध' मूलक 'अहं' के अस्तित्व को भी अप्रमाण सिद्ध कर दिया—कि यह 'अहं' भी प्रत्यक्षगम्य : संवेदनगम्य : नहीं होता, संस्कारमूलक ही होता है। इस सबकी संक्षिप्त चर्चा मुकुन्दजी ने इस मतवाद का नाम लिये बिना की है, किन्तु इसका उल्लेख नहीं होने से इस मत की निष्पत्ति किस प्रकार अन्य की संभावना मात्र के निषेध में होती है, इसकी चर्चा उन्होंने नहीं की। इस निष्पत्ति को अहम्मात्रवाद या अनन्यमात्रवाद (सोलिप्सिज़्म) कहा जाता है। किन्तु वास्तव में तो इसमें 'अस्मिता' भी असिद्ध रहती है, ऐसे में सोलिप्सिज़्म का भी क्या अर्थ? किन्तु यह निष्पत्ति जिस पूर्वग्रह पर आधारित है – कि केवल ऐन्द्रिय संवेद ही प्रमाण है, जिससे कोई प्रमेय सिद्ध नहीं होता—उसके लिए क्या युक्ति है? इसलिए मुकुंदजी ठीक ही साधारण अनुभव से आरंभ करते हैं—प्रश्नकर्त्ता से, जिसके लिए चेतना का होना और चेतना का आत्मचेतन होना और इस आत्मचेतना का आत्मस्थ होना आवश्यक है। तब वे प्रश्न करते हैं कि "आत्मस्थ किसको कहें?" इसका वे उत्तर देते हैं–"एक मर्यादा के निभाव के साथ अन्यों के साथ जी सकना।" (150) इस पर से वे प्रश्न उठाते हैं कि 'अन्य के होने का प्रमाण क्या?' किन्तु बाहर कुछ होने को प्रमाण कहें इसमें प्रमाण का क्या अर्थ? मैं मेज़ देख रहा हूँ, पर क्या यह देखना प्रामाणिक है? इस प्रश्न का क्या अर्थ? ऐसे हम सपने में भी वस्तुओं को देखते हैं, भ्रम में भी देखते हैं, ये दो 'दर्शन' प्रामाणिक नहीं हैं, इसके लिए क्या प्रमाण? इस 'अन्तिम' प्रमाण में एक घटक 'अन्य' को लाने से उसके द्वारा हमारे देखने की पुष्टि होती है—सपने में देखी गई वस्तु केवल एक देखने वाले की दृष्ट होती है, रज्जु में सर्प भी केवल एक देखने वाले का दृष्ट होता है, ये 'अन्य के द्वारा समर्थित नहीं होते' यह इनके स्वप्न और भ्रान्ति होने का प्रमाण होता है। किन्तु यह 'अन्य' कैसा होता है? दृष्टि-विषय देह? किन्तु यदि यह अन्य मेरे तुल्य है–'अन्यों के बीच मैं' के तुल्य तो यह केवल देह नहीं हो सकता, क्योंकि हमारा अपना अस्तित्व दैहिक अस्तित्व नहीं होता, हम देही होते हैं–अपनी देह के स्वामी, ऐसा ही अन्य व्यक्ति भी होता है। किन्तु देही तो दृष्टिगम्य नहीं होता, दृष्टिगम्य तो देह ही होती है। 'यों देह भी दृष्टिगम्य कहाँ होती है?' इस प्रश्न के झमेले में मुकुंदजी नहीं जाते, और ठीक ही नहीं जाते, क्योंकि इस झमेले का कोई कूल-किनारा नहीं मिल सकता, वे इस देही की धारक देह के स्वरूप का ही विवेचन करते हैं, जो विवेचन बहुत

समृद्ध और सूक्ष्म है। इस प्रक्रिया में उन्होंने नृत्य में देह के नियोजन, नाटक में किसी देह द्वारा अन्य देही के धारण, कथा में देह को परोक्ष रखकर केवल देही में अन्य का प्रत्यक्ष, इसमें रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षा की भूमिका इस सबका बहुत ही विदग्ध और सूक्ष्म विवेचन उन्होंने किया है, जो अन्यत्र दुर्लभ होगा। 'अन्य' का 'व्यक्ति' के रूप में बहुत विदग्ध विवेचन ज्याँ पॉल सार्त्र ने भी **बींग एंड नथिंगनेस** में किया है, किन्तु वह बहुत कुछ एकपक्षीय ही है–कहें 'मेरे अस्तित्व' के प्रतिरोधक अस्तित्व का पक्ष, मुकुंदजी ने अन्य को प्रतिरोधक के बजाय सहयोगी, सहधर्मी के रूप में देखा है और इस सहधर्मी अन्य के विभिन्न रूपों का निरूपण किया है।

अगले आठवें अध्याय का शीर्षक है–'समष्टि–चेतना : धर्म और नीति।' यह अध्याय पर्याप्त दीर्घ है—शब्द के रूढ़ से भिन्न व्युत्पत्त्यर्थ में इसे दीर्घसूत्री भी कह सकते हैं। इस दीर्घता का कारण मुकुंदजी का 'व्यक्ति' और 'समष्टि' के स्वरूप के सम्बन्ध में व्यामिश्र में होना है। लगभग सभी समाज–विचारक 'समाज' को मूल रूप से व्यक्ति–समूह के रूप में ही देखते हैं, जो समूह ऐसे नियमों, व्यवस्थाओं आदि के द्वारा निबद्ध होता है जो पशु–समूहों में नहीं मिलते। कुछ कीट–जातियों : दीमकों, चींटियों, मधुमक्खियों : में समूह अधिक सुबद्ध मिलते हैं, जिनमें व्यक्ति सर्वथा अस्व–तंत्र होता है और शेष में पूर्णतः नियम–हीन झुंड मात्र, केवल जीवन–रक्षा के उपाय के रूप में एकत्र। मुकुंदजी समाज में पूरी तरह इस दूसरी समूह–दृष्टि को स्वीकार नहीं कर पाते, वे किसी तरह की निर्वैयक्तिक चेतना को भी देखते हैं, किन्तु नहीं भी देखते। तो इस व्यामिश्र से निकलने के प्रयत्न में वे बहुत सी बातें कहते हैं जो इस प्रसङ्ग में यों अवान्तर हैं किन्तु अपने आपमें एक नयी दृष्टि और दार्शनिक गहराई से युक्त हैं। इसमें व्यामिश्र किस प्रकार का है, यह दिखाने के लिए हम कुछ उद्धरण देंगे, किन्तु उससे पहले यहाँ 'समष्टि' शब्द की अयुक्तता लक्षित करना आवश्यक है। 'समष्टि' शब्द 'समूह' का ही पर्यायवाची है और 'व्यष्टि' का विपरीतार्थक, तब 'समष्टि–चेतना' का अर्थ 'समूह–चेतना' ही हो जाता है जो 'समाज–चेतना' से सर्वथा भिन्न है। किन्तु उन्हें यहाँ अभिप्रेत 'समाज–चेतना' ही है, 'समष्टि–चेतना' नहीं। यह 'समष्टि–चेतना' या 'समाज–चेतना' क्या है इसे वे कहीं परिभाषित नहीं करते। अब, 'समाज' को यदि 'नैतिक सम्बन्धों की व्यवस्था' से परिभाषित किया जाय तो यह उसके एक आधारभूत लक्षण का कथन होगा। मानव–समाज में सब सम्बन्ध—माता–पिता, भाई–बहन, मित्र, पड़ोसी आदि सभी, कर्त्तव्य और अधिकारमूलक होते हैं, उनसे पृथक् उनका कोई अर्थ और रूप नहीं होता। मुकुंदजी की चिन्ता का विषय यहाँ दूसरा है, क्या 'समष्टि–चेतना' का 'व्यष्टि–चेतना' से पृथक् कोई अस्तित्व होता है या कि व्यष्टि–चेतना समष्टि–चेतना के रूप में समूहित ही होती है और कुछ नहीं? इस अध्याय का आरंभ ही इस प्रश्न के साथ होता है–"मनुष्य होना अगर आत्मचेतन होना है तो क्या हम मनुष्य–सामान्य और मनुष्य–

विशेष इन दोनों भावों में आत्मचेतना की बात कर सकते हैं? या यों कहिये कि क्या आत्म-चेतना के समष्टिगत और व्यष्टिगत, ये दो आयाम होते हैं? स्पष्ट ही समष्टिगत आत्मचेतना की बात विसंगत जान पड़ती है। आत्मचेतना जिस अनुभव में जागती है वह मनुष्य व्यक्ति को ही होता है। मनुष्य-सामान्य में—मनुष्य-जाति या मनुष्य-समाज में—ऐसे अनुभव की बात बिल्कुल असमंजस लगती है।'' (174) अब इस उद्धरण के शब्दों को ज़रा ध्यान से देखें–'मनुष्य-सामान्य और मनुष्य-विशेष' और 'समष्टिगत और व्यष्टिगत' इन दो को पर्यायवाची के रूप में देखा गया है, जो ये नहीं हैं। विशेष सामान्य का एक उदाहरण : सामान्य प्रत्यय की एक अभिव्यक्ति : होता है जबकि व्यष्टि समष्टि के अनेक व्यष्टियों में से एक होता है। उदाहरणत: सुन्दर रूप सौन्दर्य प्रत्यय की एक अभिव्यक्ति होता है और उसमें पुरुष या नारि का रूप और गुलाब और कमल का रूप समान होते हैं। इसी प्रकार, आत्मचेतना यदि मनुष्य होने का लक्षण है तो राम और श्याम इसी कारण मनुष्य कहे जाएंगे क्योंकि उनमें मनुष्य होने का यह लक्षण व्यक्त हो रहा है। यहाँ यह प्रश्न ही नहीं उठता कि आत्म-चेतना मनुष्य-सामान्य में होती है या मनुष्य विशेष में? यह ऐसी ही बात है कि मनुष्यता सब मनुष्यों में होती है या एक-एक में? यों यह विवाद तो है ही कि 'मनुष्यता' या 'सौन्दर्य' का राम-श्याम से या इस और उस सुन्दर मुख या फूल से स्वतंत्र भी कोई अस्तित्व है या नहीं? किन्तु यह प्रश्न समष्टि के सम्बन्ध में नहीं हो सकता—कि समष्टि व्यष्टियों से पृथक् होती है या नहीं? क्योंकि समष्टि बहुत से व्यष्टियों के एकत्र होने को ही कहते हैं। अब, इस त्रुटि को जाने दें और समष्टि से यहाँ अभिप्राय 'समाज' मान लें और तब प्रश्न को यों रखें कि क्या आत्मचेतना व्यक्तिगत ही होती है या कि समाजगत भी होती है? किन्तु समाज और कुछ होने के अतिरिक्त समष्टि भी होता है। अब यदि आत्मचेतना व्यक्तिगत ही हो सकती है तो समाज के समष्टिमात्र होने के अतिरिक्त कुछ होने पर भी उसमें आत्मचेतना नहीं हो सकती। किन्तु क्यों नहीं हो सकती? इसके लिए मुकुंदजी कहते हैं कि ''आत्मचेतना जिस अनुभव में जागती है वह मनुष्य व्यक्ति को ही होता है।'' अब इस अनुभव का क्या अर्थ? क्या वही नहीं जो 'आत्मचेतना' और 'घाव से कुत्ते की पीड़ा' में समान होता है? अब, कुत्ते क की और कुत्ते ख की पीड़ा के अनुभव दो अनुभव ही होंगे किन्तु शब्द-वाच्य पीड़ा राम और श्याम के लिए एक ही होती है, वह इन दो में से किसी एक का अनुभव होने पर 'राम की' शब्द से विशेषित की जाती है और इन दोनों में से किसी की नहीं होने पर 'मोहन की' इस विशेषण से विशेषित होकर राम और श्याम के बीच बात की विषय हो सकती है। किन्तु इस अनुभव का एक दूसरा आयाम भी है—जब एक चिड़िया घोंसला बनाती है तो वह चिड़िया व्यष्टि होती है या चिड़िया जाति होती है? निश्चय ही वह चिड़िया व्यष्टि ही होती है—यदि बीच में वह मर जाए तो घोंसला अधूरा ही छूट जायगा, किन्तु उस व्यष्टि की चेतना : कहें अनुभव : की

अन्तर्वस्तु जातीय ही होती है वैयष्टिक नहीं। अब आत्मचेतना को लें। मुकुंदजी आत्मचेतना से मनुष्य को परिभाषित कर रहे हैं। तब राम आत्मचेतन राम होने से नहीं होता, मनुष्य होने से होता है, जैसे चिड़िया-व्यष्टि अन्य चिड़ियाओं जैसा और चीलों से भिन्न प्रकार का घोंसला व्यष्टि-चिड़िया होने से नहीं चिड़िया जाति की सदस्य होने से बनाती है। अब, 'चिड़िया जाति अनुभव नहीं करती' यह ठीक कथन होगा, संवेदन चिड़िया जाति में तो घटित नहीं होता : व्यष्टि में ही होता है, किन्तु अनुभव की अन्तर्वस्तु जातिगत ही होती है। तब जाति का अस्तित्व व्यष्टि से स्वतंत्र ही होना चाहिए, चाहे नाति भौतिक रूप से व्यष्टि-चिड़ियाओं के माध्यम से ही अस्तित्व लेती हो! अब, चेतना का आत्मचेतन होना चेतना का एक स्तर प्राप्त होना है। वह स्तर उन सब व्यष्टियों में लक्षित होता है जो मनुष्य जाति के स्त्री-पुरुष से उत्पन्न होते हैं। यह उत्पत्ति भी दो व्यष्टियों की एकता से होती है, अर्थात् जिसमें दो व्यष्टि एक व्यष्टिता के अंग होते हैं, ऐसे में आत्मचेतना के वैयष्टिक होने का क्या अर्थ? ऐसे में आत्मचेतना को 'आत्मचेतना की वेदना' में अपचित करनें का कोई अर्थ नहीं बनता, उसके कई आयाम हो सकते हैं—वैयष्टिक भी, सामाजिक भी और जातीय भी। अब यदि यह ठीक है तो यह पूरा अध्याय इस पक्ष में निराकृत हो जाता है। किन्तु इस अध्याय में और भी बहुत कुछ है जो सुप्रतिष्ठ है। यहाँ हम उसे कुछ उद्धरणों द्वारा निदर्शित करने का प्रयत्न करेंगे।

आत्मचेतना की व्यक्तिनिष्ठता पर विचार के इस क्रम को आगे बढ़ाते हुए चार पृष्ठों के बाद वे कहते हैं-''आत्मचेतना सामान्य चेतना भी होती है। प्रसंगवश दो शब्द भोक्तृत्व और कर्त्तृत्व की सामान्यता के बारे में कहता हुआ आगे बढ़ता हूँ।

''हम पाते हैं कि भोग-चेतना इन्द्रियों के आस्वाद या 'रुचि' की ओर झुकती हैं। पर कला की संवेदना में वह इन्द्रिय-बोध से ऊपर उठती हुई 'रस-चेतना' के धरातल पर आ रहती है जहाँ वह अनायास स्वतंत्र हो जाती है और इन्द्रियों के परे पहुँच पाती है-उसे अब हम विमर्श-धर्मी कह सकते हैं। ... जिस चेतना में हम रस का अनुभव करते हैं वह आत्मचेतना के सामान्य का धरातल होता है....।'' (178)

''रस की तरह ही कर्म में साधारणीकरण होता है। संकल्प का औचित्य अन्य सामान्य न हो तो 'औचित्य' ही नहीं कहला सकता।'' (179) इस क्रम में मुकुन्दजी ने भोक्तृत्व, कर्त्तृत्व और ज्ञातृत्व पर पर्याप्त विस्तृत और सूक्ष्म विचार किया है। इस विचार के क्रम में वे 'अर्थ-लोकों' के स्वरूप-विवेचन की ओर बढ़ते हैं और कला के साथ विज्ञान, गणित आदि में व्यक्त 'अर्थ-लोकों' का स्वरूप-विवेचन करते हैं। यह विवेचन उन्हें आत्म-ज्ञान के प्रश्न की ओर लाता है। इस क्रम में वे कहते हैं-''... प्रश्न को कर्म के बीज के रूप में भी देखा जा सकता है क्योंकि मेरी गतियों का विस्तार भीतर के साथ बाहर भी होता है—अन्यों के प्रति, जगत् के प्रति। और यों देखें तो यह

भी देखा जा सकता है कि 'मैं क्या हूँ', यह प्रश्न 'मुझे क्या होना चाहिए से ही अविच्छेद्य नहीं रहता', 'हमें क्या होना चाहिए?' से भी अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि मैं की चेतना अन्य सामान्य होती है।'' (184) इस क्रम में वे सुकरात के फाएद्रुस (फ़ीड्रस) संवाद को आधार बनाते हुए 'आत्मानंविद्धि' (आत्म-ज्ञान) के प्रश्न पर आते हैं जिस पर उन्होंने यहाँ विस्तृत विचार करते हुए आत्मा की व्यक्तिपरकता और निर्वैक्तिक सर्वपरता पर विचार किया है। इस पर विस्तृत विचार के क्रम में वे 'परंपरा' के स्वरूप, फिर अर्थ, काम और धर्म पुरुषार्थों के स्वरूप पर आते हैं और पर्याप्त विस्तृत और पैना विवेचन करते हैं। यहाँ वे प्रश्न उठाते हैं कि ''अब अगर हम मनुष्य को आत्मचेतन कहते हुए उसे धर्म से भी लक्षित कर रहे हैं तो प्रश्न उठेगा ही कि मनुष्य में धर्म व्यष्टि-रूपेण है या समष्टि-रूपेण? ... पर हम यह भी देख आये हैं कि आत्मचेतना में 'व्यष्टि' अगर 'व्यक्ति' का रूप लेता है तो उसका रूप आत्मचेतना के भीतर ही अन्यसामान्य भी होता है, तभी मनुष्य समष्टि 'समाज' का रूप लेती है, जिसके मूल में व्यक्ति की आत्मचेतना ऊह्य रहती है। ... यह चेतना प्रकट व्यक्ति में होती है, पर व्यक्ति की नहीं होती–सामान्य होती है। इसीमें औचित्य-बोध का वह बीज भी जड़ करता है जो अर्थ और काम में निसर्ग-प्रवृत्ति के प्रवृत्ति-साफल्य मात्र से ऊपर उठी धर्म की स्वतंत्र उपेयता जगाता है।'' (193) इस सारे विचार-क्रम में मुकुंदजी को 'आत्मचेतना' की 'व्यष्टिमूलकता' और 'सामान्यरूपता' के दो पृथक् : अनमेल : छोरों को मिलाने के प्रयत्न में जूझते देखा जा सकता है।

धर्म पर, उसके कर्म के औचित्यमूलक (नैतिक) स्वरूप पर, विचार करने के बाद वे उसके रिलीजन-रूप पर विचार करते हैं और उसके स्वरूप-विवेचन के साथ उसके विपरीतार्थक 'सेक्युलर' के स्वरूप पर विचार करते हैं, जो विचार उन्हें कम्प्यूटर और रोबोट की ओर लाता है। यह सब विचार वे बहुत विश्रब्ध भाव से, बिना किसी जल्दबाज़ी के करते हैं, जैसे मानो ये अवान्तर प्रसङ्ग नहीं होकर मूल विषय के ही अन्तर्गत हों। इस क्रम को आगे बढ़ाते हुए वे प्रमाण के स्वरूप पर आते हैं। प्रमाण पर विचार उन्हें न्यायभाष्यकार वात्स्यायन की दिशा में लाता है, जिस पर भी वे मूल प्रसंग के रूप में ही विचार करते हैं। यह विचार पृष्ठ 208 से 211 तक चलता है। 212वें पृष्ठ पर वे इसी क्रम को प्रमाण के सत्य-असत्य के पक्ष से सदसद् (उचित-अनुचित या शिव-अशिव) के पक्ष की ओर बढ़ाते हैं और तब इसे समष्टि-भाव के साथ जोड़ते हुए यह अध्याय समाप्त करते हैं।

इससे अगले, अन्तिम, अध्याय का शीर्षक है 'धर्म और नीति'। इसमें आरंभ के 8 पृष्ठों में तो पिछले अध्याय की व्यक्ति-समष्टि-भेद की चर्चा ही चली है, उसके बाद धर्म की चर्चा उसमें से क्रमशः आगे बढ़ी है। इस व्याख्या की आधार प्रतिज्ञाएं वहीं हैं जिनकी स्थापना और व्याख्या पिछले अध्यायों में हुई है–चेतना के आत्मचेतन होने के

साथ उसमें एक आधारभूत रूप से नये आयाम : औचित्य–बोध—धर्म–बोध : का आविर्भाव और इस बोध की चेतना के स्वातंत्र्य, प्रातिभ प्रकाश और प्रातिभ साक्षात्कार में प्रतिष्ठा। किन्तु इसकी व्याख्या में कुछ नये सूत्र भी उभरे हैं–समाज विषयक आधुनिक पाश्चात्य व्यक्तिवादी दृष्टि का विवेचन, इस दृष्टि की ऐहिकता : जिसे मुकुंदजी 'दृष्टपरकता' कहते हैं, की अपर्याप्तता और इस प्रकार इसमें आध्यात्मिकता : 'अदृष्टपरकता' : की अनिवार्य अपेक्षा, धर्म–बोध की व्यक्तिमूलकता किन्तु धर्म–व्यवहार की समष्टिमूलकता, धर्म की निरपेक्ष उपेयता किन्तु समष्टि–व्यवहार में उपेय–सिद्धि में उपाय–कौशल की अपेक्षा, इन सबकी विस्तृत चर्चा इस अध्याय में हुई है। इस चर्चा को मैं यहाँ कुछ उद्धरणों द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयत्न करूँगा।

... (बोध की उदात्तता)''का आधार मनुष्य का स्वातंत्र्य है जो जड़ जगत् के कार्य–कारण प्रवाह से, जीव–जगत् की अंधजिजीविषा से उठ सकने की शक्ति का द्योतक है। पर यह स्वातंत्र्य एक विचित्र वैषम्य लिये होता है जिसका मूल मनुष्य की व्यष्टि और समष्टि चेतना के द्वैध में जड़ करता दिखता है। स्वतंत्र और आत्मचेतन कर्त्तृत्व व्यक्ति में होता है, पर व्यक्ति की नींव समष्टि है, जिसमें आत्मचेतना और कर्त्तृत्व की बात नहीं की जा सकती। इसका यह अर्थ नहीं है कि समष्टि कार्य–कारण या ऐसे ही किसी परतंत्र गतानुगतिक प्रवाह का अंग होती है—होती तो आत्मचेतना किसी विशेष मनुष्य–व्यक्ति में आगन्तुक होती, व्यक्तिमात्र में नहीं उभरती। स्पष्ट ही मनुष्य के आत्मचेतन स्वातंत्र्य और कर्त्तृत्व की संभावना का बीज मनुष्य–समष्टि में है–मनुष्यता में है, मनुष्य–व्यक्ति में नहीं। भाषा भी इसी का चिह्न है।'' (227) इस उद्धरण में वही व्यामिश्र है जो मैं पिछले अध्याय की समीक्षा में दिखा आया हूँ। मुकुंदजी व्यष्टि और समष्टि को चेतनागत अन्तर्वस्तु में नहीं देखकर देह और देह–समूह में देख रहे हैं, जैसाकि प्राय: अन्य सभी विचारक भी देखते हैं। इसकी अयुक्तता हमने अन्यत्र[4] विस्तार से दिखायी है। यहाँ हम केवल संकेत रूप में भाषा में इन दो आयामों की संयुक्त विद्यमानता के स्वरूप के प्रदर्शन द्वारा इस विचार की अयुक्तता दिखायेंगे : भाषा अपने 'अस्तित्व' में केवल व्यक्तियों के चेतना–व्यापारों में ही रहती है जैसे दु:ख–संवेद (पीड़ा) और सुख–संवेद व्यक्तियों के चेतन–व्यापारों में रहते हैं। दो व्यक्ति बात करते हैं तब वह दो व्यक्तियों का भाषा–प्रयोग होता है, पुस्तक में लिखा कुछ किसी व्यक्ति के पढ़ने पर ही भाषा–रूप में अस्तित्व में आता है। किन्तु भाषा की अन्तर्वस्तु स्वरूपत:

---

4. **संस्कृति : मानव–कर्त्तृत्व की व्याख्या** में 'संस्कृति का अधिष्ठान' अध्याय, **समाज : दार्शनिक परिशीलन** में प्रथम तीन अध्याय, जिनमें हमने एक ही चेतना में व्यक्ति–मानव और समाज–मानव की अधिस्थिति दिखायी है और **चित् की आत्म–गवेषणा** में, जहाँ हमने मुकुंदजी की ही इस दृष्टि की आलोचना की है। (पृ. 81–82)

सामान्य निर्वैक्तिक-अतिसामाजिक होती है, जो व्यक्ति के प्रयोग में एक-साथ वैयक्तिक और सामाजिक वलयों में आविर्भूत होती है। 'राम, घट लाओ' यह आदेश श्याम द्वारा राम को दिया गया है, किन्तु इस आदेश की अन्तर्वस्तु :शब्द और अर्थ : हिन्दी भाषा-मूलक है, जो अन्य असंख्य भाषाओं में से एक है। ये सब भाषाएं भाषा-दर्शी चेतना के अन्तर्गत एक और अनेक हैं। यह चेतना व्यक्त दैहिक संवेदों के माध्यम से होती है, जिस प्रकार जाति व्यष्टि-देहों के माध्यम से और घटादि प्रत्यय भौतिक वस्तुओं के माध्यम से व्यक्त होते हैं, किन्तु इनमें से कुछ भी अपने स्वरूप में वैयष्टिक नहीं होता। इसे यों कह सकते हैं कि 'मनुष्य' राम या श्याम के होने से नहीं होता बल्कि राम और श्याम 'मनुष्य' के होने से होते हैं। यह सब बात इस पुस्तक में मुकुंदजी की भाषा-चर्चा में आपको मिल सकती है, किन्तु वे इसमें निहित सिद्धान्त को नहीं देख पाते।

इस क्रम में मुकुंदजी आगे धर्म के स्वरूप की बात करते हैं, किन्तु ऐसे जैसे व्यष्टि और समष्टि की बात कर रहे हों। किन्तु उनकी धर्मविषयक दृष्टि का व्यष्टि-समष्टि-प्रश्न से सम्बन्ध यही है कि धर्म-तत्त्व का साक्षात्कार और उसका जीवन में क्रियान्वयन व्यष्टि करता है या समष्टि? अब, पिछले अध्याय का विषय यही था, इस अध्याय का विषय यह नहीं है। किन्तु इस अध्याय में भी वे निरन्तर इससे जूझ रहे हैं। यह निम्न उद्धरण में द्रष्टव्य है ... ''व्यवहार के स्तर पर धर्म मनुष्य को नियमित करता उभरता है। यहाँ तक कि आहार, निद्रा, मैथुन को भी अपने मर्यादा-बोध की परिधि में घेर लेना चाहता है।

''पर नियम-पालन व्यक्ति करता है। (220) ... नियम-व्यवस्था भय को ही व्यक्ति-नियंत्रण का माध्यम बनाती है। वह व्यक्ति को भीतर-बाहर हर तरह से तोड़ डालने में समर्थ होती है। ... व्यवहार में नियम रूढ़, गतानुगतिक होते हैं, अधिदैविक, अधिदैहिक, अधिमानसिक, कई गडारों में, रेवड़-चालों में व्यक्ति को हाँकते हैं, कई प्रकार के दंड का आतंक उसके सर पर झुलाते हैं।''... (229) *''पर फिर भी नियम को नियम-सार नहीं समझना चाहिए, क्योंकि तब उसका कोई अर्थ ही नहीं है। हालाँकि वे ऐसे रूप भी लेते हैं। पर तब वे धर्म नहीं रहते, नीति हो जाते हैं। धर्म की प्रेरणा अर्थ और काम को ही, व्यवहार-लोक को ही, एक उदात्ततर अर्थ-लोक का रूप देने की है।* धर्म मनुष्य-जाति में – समष्टि में– व्यक्ति को उभारता हुआ उभरता है तो उसकी उपेयता में स्वतंत्र व्यक्तियों का परस्पर भाव, परस्पर भावन गुँथा जान पड़ता है। हमारी औचित्य-कल्पना में धर्म का यही आधारभूत रूप जागता है। मनुष्य मात्र में जागता है। हमारे यहाँ तो व्यक्तियों के संकल्प में जागते परस्पर भावन के स्तर से ही धर्म की पूर्णता-अपूर्णता नापने की कल्पना है। सत् युग में जब धर्म पूर्ण होता है, नियम-नीति की आवश्यकता ही नहीं होती, तब व्यक्ति स्वातंत्र्य के साथ अनायास एक-दूसरे का

श्रेय–भावन करते हैं। इस परस्पर भाव की क्षीणता है जो दंड और नीति को आवश्यक बनाती है।''(229)

इस उद्धरण में दो पक्ष सहज ही देखे जा सकते हैं–धर्म के निवास का पक्ष, कि वह कहाँ रहता है–व्यक्ति में या समाज में? और दूसरा उसके स्वरूप का पक्ष–कि वह व्यक्ति के आचरण में व्यक्त उदात्ततर अर्थ–लोक है, जो चेतना के स्वातंत्र्य में रूप लेता हैं—जैसे नृत्य में छंद–लय–ताल। सत युग की कल्पना में धर्म और नियम का यही रूप है–व्यक्तियों में पारस्परिकता का सहज नियम।

आगे वे आधुनिक यूरोपीय व्यक्तिवाद पर विचार करते हैं। उनके अनुसार ... ''व्यक्तिवादी दृष्टि समष्टिगत नियमन को एक विशुद्ध नीतिगत आधार देना चाहती है। वह व्यक्ति को व्यक्ति के स्व–निष्ठ अर्थ में देखती हुई मज़हब, रिलिजन का ही नहीं, किसी 'अदृष्ट' का, किसी ऊर्ध्वतर चेतना का भी निराकरण करती है। व्यक्ति को समाज से प्राक् मानती हुई वह समाज को व्यक्तियों का स्वेच्छया गुंफित संगठन बताती है, जो संगठन कि व्यक्ति और उसके स्व अर्थ को केन्द्र में रखकर व्यक्तियों के बीच गठा गया है। यह स्वेच्छाकृत संगठन स्वतंत्र व्यक्तियों के बीच व्यवहार के लिए एक संधि होता है : समझौता।'' (230) किन्तु व्यक्ति, समाज और उनके बीच किसी अदृष्ट, उदात्त, अतिक्रामी दृष्टि से रहित संबंध की इस दृष्टि को वे अपर्याप्त पाते हैं। उनके अनुसार ''लेकिन सच पूछिये तो व्यवहार में व्यक्तिवाद विशुद्ध हो नहीं सकता। व्यक्ति–सत्ता को आत्यन्तिक बनाने की ओर बढ़ता भी है तो बात विचार की एक मुद्रा ही बनती है–वैसे भी विचार जिधर बढ़ता है प्रत्यन्त की ओर, ऐकान्तिकता की ओर ही बढ़ता है। उसे विचार–प्रज्ञा की स्वीकृति मिलना और बात है। समझौता वाले भी व्यक्तियों के बीच एक निविष्ट, व्यक्ति–ऊर्ध्व–परस्पर–भाव और परस्पर–भावन या दायित्व–बोध को मानकर चलते हैं। ...

''थोड़ा भी गहराई से देखें तो समझौता अपने आधार में धर्म के रूप में ही उभरता है'' (232) किन्तु यूरोपीय व्यक्तिवाद किसी धर्म–भाव या अदृष्ट :लोकोत्तर : दृष्टि से अपने को पूर्णतः मुक्त ही रखता है, जिस मुक्ति का मुकुंदजी ने ऊपर दिये गए उद्धरण के आरंभ में बहुत समीचीन निरूपण किया है। किन्तु इस पर उनकी इस टिप्पणी से असहमत होना कठिन ही होगा कि यूरोपीय दृष्टि की यह नितान्त ऐहिकता आधुनिक विज्ञान–सम्मत सिद्धान्त दृष्टि से तो ठीक है किन्तु यह मनुष्य के समाज के आधार के रूप में पर्याप्त नहीं हो सकती।

इस अ़ध्याय का शीर्षक 'नीति और धर्म' है। इन दो के बोध–रूपों या इनकी आधार मनोवृत्तियों का भेद दिखाना इस अध्याय का मुख्य विषय है, यद्यपि यह भेद प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मनुष्य के सब कार्यों में ही ऊह्य रहता है। हम परोपकार,

विद्यार्जन, कला–सर्जन आदि यश, धन आदि के उद्देश्य से भी कर सकते हैं और इनसे नितान्त निरपेक्ष भाव से भी। हमारी पूजा–पाठ तक में अधिकांशतः पहली अभिवृत्ति ही रहती है–कि ईश्वर हमें विपत्तियों से बचाये और आर्थिक आदि लाभ देने में सहायक हो : इसलिए इस पूरी पुस्तक में ही इस भेद का प्रसङ्ग बार–बार आता है और मुकुंद जी यह दिखाते हैं, किन्तु इस अध्याय का तो विषय ही यह है। अब, नीति के भी दो रूप हो सकते हैं–धर्म भी जब कर्म में प्रवर्तित होता है तब उसे कौशल का, उसके सफल निर्वाह का विचार करना पड़ता है, किन्तु वहाँ नीति धर्म का अंग होती है, इसके विपरीत धर्म नीति का अंग भी हो सकता है–अधिकांश में ऐसा ही होता है। वेद में 'पुत्र–कामना से यज्ञ करे' की बात कही गई है, मुकुंदजी ने शुक्र–नीति का उल्लेख किया है कि वह किस प्रकार लोगों को प्रभावित करने के लिए धर्म–ध्वजी होने की नीति अपनाने की बात करती है। यह भेद हमारे आचरण में क्या रूप लेता है इसका मुकुंदजी इस प्रकार निरूपण करते हैं ... "पर अब नियम के परे की नई आहट भी चेतना को मिलती रहती है—प्रज्ञा या प्रतिभा को अब हम नियमों के ऊपर पा सकते हैं।" ... सभ्यता में "शिष्टता की परंपराएं कसती हैं, पर आचरण का आदर्श नियम में कसे रहना ही सदाचरण के शील में खुलना होता है। हम कह सकते हैं कि आचरण के नियम शील की विधि हैं—उसी की संभावना के द्वार। उनका बन्धन होना उनका वास्तविक 'अर्थ' नहीं है ... शील शील तभी होता है जब उसमें स्वातंत्र्य ही नहीं, एक स्वाच्छन्द्य भी हो।" (235) नीति और धर्म के इस भेद को आधार बनाते हुए उन्होंने समाज, राज्य, न्याय–व्यवस्था, राष्ट्र, राष्टों में युद्ध आदि पर विचार किया है, जो अन्यत्र कहीं दुर्लभ होगा।

इस प्रकार इस पुस्तक में कर्म–चेतना के स्वरूप पर विस्तृत और सूक्ष्म विचार हुआ है। यह पुस्तक कर्म के स्वरूप विषयक विचार में असाधारण योगदान करती है।

— **यशदेव शल्य**

पुस्तक-समीक्षा

# शल्य जी की समसामयिक चिन्ताएं*

प्रख्यात दार्शनिक श्री यशदेव शल्य ने जहाँ दर्शन पर उत्कृष्ट रचनाएँ दी हैं वहीं समकालीन भारतीय दार्शनिकों में उनकी विरलता और विशेषता इस बात में भी है कि उन्होंने समाज, संस्कृति, राज्य, राजनीति, राष्ट्र, सामाजिक व्यवस्था और समसामयिक समस्याओं तथा चिन्ताओं पर भी गहराई से सोचा और लिखा है। **समसामयिक चिन्ताएँ** पुस्तक अपने शीर्षक के अनुरूप ही है। इसमें शल्यजी ने जहाँ भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के अन्तर्निहित मूल्यों पर और महात्मा गांधी की दृष्टि पर विचार व्यक्त किये हैं, वहीं समकालीन भारतीय समस्याओं-अंग्रेज़ी के प्रति आश्चर्यजनक मोह, भ्रष्टाचार, विलासिता, तनाव और विक्षोभ तथा संघर्ष, हिन्दू-मुसलिम टकराव, शिक्षा की स्थिति और उद्देश्य, संस्कृति, विभिन्न राजनैतिक दलों और सांस्कृतिक संगठनों तथा राजनीति, सर्जना, स्वातंत्र्य आदि विषयों पर अपने 29 लेख संकलित किये हैं। इनमें से कुछ लेख जैसे 'पुस्तक और मैं' तथा 'दर्शन परिषद् का जन्म' आदि पहली दृष्टि में देखने में पुस्तक की मूल विषयवस्तु से हटे प्रतीत होते हैं, परन्तु वे ऐसे हैं नहीं। 'पुस्तक और मैं' लेखक-पाठक संबंधों की बहुस्तरीय अंतरंगता और गतिमयता का प्रभावपूर्ण निरूपण है। दर्शन परिषद् वाला लेख समकालीन बौद्धिक परिवेश के आत्मदैन्य का साक्ष्य है।

समसामयिक भारतीय परिवेश पर सोचते हुए स्वाभाविक ही शल्यजी का ध्यान सबसे पहले भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम और उसके मूल्यों पर जाता है। 'भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम और मूल्य-विमर्श' तथा 'महात्मा गांधी और हिन्द-स्वराज' लेख मुख्यत: इसी विषय पर केन्द्रित हैं। शल्य जी महात्मा गांधी को भारत के सत्त्व और मूल्य की शिखर अभिव्यक्ति के रूप में देखते हैं। 'मूल्य' के विषय में वे स्पष्ट करते हैं कि यों तो किसी भी इच्छित विषय अथवा प्राप्त लक्ष्य को मूल्य कह दिया जाता है परन्तु वस्तुत: आत्मा के स्वरूप को जानना और फिर तदनुरूप आचरण करना, यह मूल्य है। शल्यजी स्पष्ट करते हैं कि भारत की स्वतंत्रता का और भारत राष्ट्र की संस्कृति का

---

*. समसामयिक चिन्ताएँ, प्रकाशक-राका प्रकाशन, महात्मा गान्धी मार्ग, इलहाबाद-211001, पृ. सं; 240, मूल्य 250/-।

सर्वोच्च मूल्य है सत्य और अहिंसा, परन्तु वे साथ ही यह भी कहते हैं कि जहाँ गांधीजी में यह भारतीय मूल्य अपने उत्कृष्ट और सम्यक् रूप में अभिव्यक्त हुआ, वहीं गांधीजी अनेक कारणों से पूरी तरह असफल रहे।

यहाँ एक प्रकट तथ्य को शल्यजी अनदेखा कर रहे हैं कि मुसलमान भाइयों के प्रति हिन्दू भाई इकतरफा आत्मबलिदान करें, इस सिद्धान्त को प्रस्तुत करने में गांधीजी निष्पक्ष नहीं रह सके। उन्होंने मुसलमानों से हिन्दुओं के लिए आत्मबलिदान करने को कभी भी नहीं कहा। कभी अपील तक नहीं की। हिन्दुओं में गांधीजी के प्रति असीम श्रद्धा थी और वे उन्हें अलौकिक शक्ति-सम्पन्न विभूति मानते थे। उन पर ऐसे विश्वास के कारण हिन्दुओं ने विभाजन की कोई भी तैयारी नहीं की और भारत का विभाजन सहसा हो गया जिसमें कई लाख निर्दोष लोग मारे गये। इस हिंसा को कारित कराने और इसके अनुमोदन का कारण बनने का दोष गांधीजी पर आता है। योगसूत्र है कि हिंसा आदि कृत, कारित, अनुमोदित तीन भेदों वाली होती है तथा लोभ, क्रोध या मोहपूर्वक, मृदु, मध्य या तीव्र—इन इक्यासी भेदों वाली होती है और फिर वह नियम, विकल्प और समुच्चय-भेद से असंख्य प्रकार की होती है। इस प्रकार इस तीव्र हिंसा को कारित कराने एवं इसके अप्रत्यक्ष अनुमोदन में गांधीजी मोहपूर्वक सहभागी बने। यह एक तथ्य है। उधर निर्मम राजपुरुष नेहरू को गांधीजी की हत्या से भी अपनी नीति विषयक भूलों को लेकर न किसी प्रकार का पश्चात्ताप हुआ, न ही उन्होंने दंगाइयों के विरुद्ध आवश्यक सख्ती का कोई निष्पक्ष आदेश प्रशासन को दिया, वरन् केवल उत्पाती हिन्दुओं के ही दमन को तीव्रतम कर दिया। इस्लाम के नाम पर सक्रिय उग्रवादी-अलगाववादी पक्ष के प्रति प्रमाद एवं तुष्टीकरण की अपनी नीति पर इतने भयावह नरसंहार के बाद भी नेहरू जी के लिए शल्यजी ने कोई भी बात नहीं कही है। यद्यपि एक स्थान पर सूत्र रूप में उन्होंने यह विचार दिया है कि सामाजिक और धार्मिक संस्थाओं को भी विधिविहित प्रतिष्ठा मिलनी चाहिये। पर कैसे? उसकी प्रक्रिया क्या हो? कौन बदलेगा इस संविधान को? बदलकर उसे धर्म-सम्मत कौन बनाएगा? शल्यजी कह ही चुके हैं कि ऐसे सभी प्रयासों को आज साम्प्रदायिकता और धर्मांधता कहा जा रहा है। तब? मार्ग क्या है? क्या प्रक्रिया सम्भव है? इस पर दार्शनिक श्री शल्य ने कोई विचार नहीं किया है। भारत के समकालीन राजनीतिशास्त्री भी इस पर कोई विचार नहीं करते। ऐसे में ये सारी शुभाशंसाएँ किसी लोकप्रिय राजनेता के वक्तव्यों का उच्चस्तरीय रूप होकर रह जाती हैं। मार्ग और प्रक्रिया की कोई चर्चा नहीं होती, चिंता नहीं होती। जबकि वह नितान्त समसामयिक चिन्ता है।

निश्चय ही शल्य जी के कथन एक दार्शनिक की गम्भीर चिन्ता की अभिव्यक्ति हैं। वे यह भी कहते हैं कि हमारा इस गर्त में गिरना हमारी कोई अनिवार्य नियति नहीं थी। हम भले ही ग्राम-स्वराज की ओर अग्रसर न हो पाते, परन्तु हम सनातन भारत के

तत्त्व को जीवित रख सकते थे। गांधी-दृष्टि में व्यवहार के अनुरोध से कुछ संशोधन किये जा सकते थे, परन्तु हमारा इस तरह आत्म-विमुख हो जाना तो पतन की पराकाष्ठा है। यह अंधे कुएँ में गिरना है (पृष्ठ 27)।

'महात्मा गांधी और हिन्द-स्वराज' लेख में, जो उन्होंने मध्यप्रदेश सरकार द्वारा महात्मा गांधी के 125वें जन्मदिन पर आयोजित सम्मेलन में प्रस्तुत किया था, जिसमें मैं भी सहभागी था, शल्यजी ने यह कहा था कि गांधीजी में सहज बोध और अडिग साहस तो था परन्तु उसके समतुल्य सूक्ष्म और युक्तियुक्त विचार दिखाई नहीं देता (पृष्ठ 7)। इसका यह अर्थ नहीं कि सूक्ष्म और युक्तियुक्त विचार अनिवार्यत: सत्य ही होता हो, परन्तु गांधीजी जैसे सत्यनिष्ठ व्यक्ति यदि सूक्ष्म और युक्तियुक्त विचार करते तो निश्चय ही वह सत्य का ही विस्तार होता। उनका कहना यह है कि महात्मा गांधी एक अत्यधिक सबल और स्वस्थ व्यक्ति थे-शुभ संकल्प के बल से युक्त और आत्मा में अवस्थिति से युक्त। यह बल और स्वास्थ्य उन्होंने मनुष्य की आत्मोपलब्धि विषयक इस सनातन दृष्टि से तादात्म्य सिद्ध करने की अडिग साधना के द्वारा प्राप्त किया था कि काम, क्रोध आदि अथवा असत्य, हिंसा, स्तेय आदि वास्तविक रोग हैं। इन रोगों के रहते शारीरिक स्वास्थ्य का कोई विशेष अर्थ नहीं रह जाता। जबकि आधुनिक प्रौद्योगिकी की प्रतिष्ठा वस्तुत: मनुष्य के वास्तविक आध्यात्मिक रोगों में ही है (पृष्ठ 15)। शल्यजी का आग्रह इस बात का है कि प्रौद्योगिकी को आध्यात्मिक सत्य की अनुरूपता में ही मर्यादित रखा जाय, यही सच्चे भारतीय (और वैश्विक भी) नेतृत्व की कसौटी है। परन्तु ऐसी कसौटी अब तक तो स्वीकार्य नज़र नहीं आती।

समकालीन परिवेश की पतनोन्मुखता पर विचार करते हुए शल्यजी ने सर्वव्यापी भ्रष्टाचार और भोगवाद के बारे में तो बताया ही है, यह भी कहा है कि हमारी शिक्षा-व्यवस्था हमें आत्मविमुख बना रही है और श्री जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में हम पतन के गर्त में गिरते चले गये। वे यह भी कहते हैं कि इस गर्त में गिरने से बचने की सम्भावनाएँ हमारे समाज में विद्यमान थीं। स्वामी दयानंद, स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द, लोकमान्य तिलक, सरदार पटेल, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद आदि अनेक आध्यात्मिक और राजनैतिक विभूतियाँ तथा अनेक साहित्यिक और विचारक हमारे यहां स्वाधीनता संग्राम की अवधि में उदित हुए और ये सब लोग ऐसी सनातन जीवन-दृष्टि से सम्पन्न थे जो हमें पतन के इस गर्त में गिरने से रोक सकती थी। परन्तु ऐसा लगता है कि जो तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियां थीं वे प्रभावी रहीं और उन्होंने ही जवाहरलाल नेहरू को औपनिवेशिक सत्ता के हस्तांतरण की प्रक्रिया में सबसे बड़ा नेता बनाकर उभारा। वे बताते हैं कि वस्तुत: नेहरूजी भारतीय समाज के एक बहुत लघु किन्तु शासक वर्ग द्वारा संरक्षित और प्रवर्तित वर्ग के प्रतिनिधि थे। (पृष्ठ 20 तथा 100)

वस्तुतः नेहरू जी इस शासक वर्ग के भी एक वामपंथी गुट के ही प्रतिनिधि थे। दूसरा गुट, जो उदार लोकतांत्रिक था, उसने नेहरू जी के वामपंथ को तो पसंद नहीं किया परन्तु उनके भारतीयता-विरोध को पसंद किया, क्योंकि यह भारतीयता इस दूसरे गुट को भी अपनी भावी योजना में अवरोध दिखती थी। इस प्रकार दूसरे गुट ने नेहरू को रणनैतिक समर्थन दिया। कम्युनिस्टों को साथ लेकर नेहरूजी ने भारतीयता के नियोजित विनाश और रूपान्तरण की रणनीति रची। नेहरूजी का देशप्रेम उनके प्रशंसकों द्वारा केवल इस अर्थ में 'देशप्रेम' कहा जा रहा है कि वे इसके विराट् संसाधनों को अपने नियंत्रण में रखना चाहते थे। इस प्रकार वह वस्तुतः राज्यप्रेम था, देशप्रेम नहीं। वह भी अधर्ममय राज्यप्रेम। देश की संस्कृति, दर्शन, अध्यात्म, शास्त्रचिंतनपरम्परा, श्रद्धा-केन्द्र, तीर्थ, पुण्य-प्रतीकों आदि से नेहरूजी को कोई प्रेम नहीं था। वे इन सबका विकल्प रच रहे थे। वे भाखड़ा नंगल आदि को नए तीर्थ बता रहे थे तथा इसी प्रकार अन्य विकल्प प्रस्तुत कर रहे थे। उनके प्रशंसकों का प्रिय फिल्मी गीत था–'देश को बनाएंगे मशीनों का नगर। बोलो मेरे संग जयहिन्द, जयहिन्द।'

शल्यजी लिखते हैं कि महात्मा गांधी और सरदार पटेल के निधन से नेहरूजी का मार्ग निर्बाध हो गया। नेहरूजी की दृष्टि आधुनिक पश्चिम से निर्धारित थी और सांस्कृतिक भारत उनके लिए एक सुदूर परदेस था। उनकी 'भारत की खोज' विदेशी पर्यटकों जैसी एक मनोरंजन-यात्रा है। वे भारत को उससे भी कम जानते थे जितना इसे विदेशी इतिहासज्ञ जानते हैं। यह उनके भाखड़ा-नंगल को देश के मन्दिर कहने से ही प्रकट नहीं है, बल्कि दर्शन आदि सब विषयों के अध्यापकों को शिक्षा के लिए यूरोप भेजने और वहाँ के शिक्षकों को सिखाने के लिए यहाँ आमंत्रित करने तथा भवन, नगर आदि तक के निर्माण के लिए पश्चिम के स्थपतिकों आदि को नियुक्त करने से भी स्पष्ट है। वे कहते हैं कि जिस देश में आज से डेढ़ सौ वर्ष पहले तक सांस्कृतिक अस्मिता भरपूर थी और जिसकी देशव्यापी भाषा संस्कृत थी तथा जिसके लोगों को परस्पर की भाषाएँ समझने में कोई कठिनाई नहीं आती थी वहाँ आज भाषायी विवाद और हिन्दी का विरोध राजनीति द्वारा संचालित हो रहा है। अंग्रेज़ों तक ने हमारी स्कूली शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी को नहीं बनाया था। अंग्रेज़ों के काल में अधिकांश दार्शनिक भारतीय दर्शन का गौरव सिद्ध करने के लिए प्रयत्नशील थे और भारतीय साहित्यकार भी अपने ही देश की भावभूमि से जुड़े थे। किन्तु स्वतंत्रता के बाद नेहरूजी के संरक्षण में भारत के यूरोपीयकरण का कार्य इतनी तेजी से हुआ कि हमारे सभी विचारक केवल यूरोपीय दर्शनों के अनुसरणकर्ता बनने में गौरव का अनुभव करने लगे तथा साहित्यकार मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, फ्रायडवाद, आधुनिकतावाद, उत्तर आधुनिकतावाद आदि को ही अपने साहित्य-चिन्तन का संदर्भ बनाने लगे। ऐसे आधुनिक भारत के निर्माता

निश्चय ही नेहरू जी हैं पर यह आधुनिक भारत ऐसा है जिस पर हम केवल लज्जित हो सकते हैं। नेहरूजी ने हमें सांस्कृतिक रूप से खोखला कर दिया और उसके बाद बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के माध्यम से हमें आर्थिक रूप से खोखला करने की प्रक्रिया आरम्भ हो गई। आज भयानक आर्थिक भ्रष्टाचार ही व्याप्त नहीं है, अपराध और दुराचार के सभी भद्दे रूप उस सीमा तक पहुँच चुके हैं जिसके बाद दुर्दान्त अराजकता की सभी हदें पार हो जाती हैं। हमारे पूर्व और पश्चिम दोनों ओर के सीमन्त क्षेत्र और देश के अन्य भाग आतंकवादियों के अधिकार में हैं। हमारे प्राय: सभी नेता और प्रशासनिक अधिकारी जनता की आँखों में समान रूप से दुराचारी और भ्रष्टाचारी हैं। चुनाव के लिए विकल्पों में केवल अपराधी ही शेष बचे हैं ओर लोग उचित-अनुचित विवेक में आस्था खो चुके हैं। ऐसे में आतंकवाद, अपराध और उत्पात ही सम्भव है, क्योंकि मानव-व्यक्ति और मानव-समाज, दोनों को धारण करने वाला तत्त्व केवल सत्य और धर्म में आस्था ही होता है (पृष्ठ 72-74)।

शल्यजी कहते हैं–'यदि स्वतंत्रता के अवसर पर देश की बागडोर नेहरू जी के बजाय सुभाष या पटेल जैसे व्यक्ति के हाथ में आई होती तो हम सत्य और अहिंसा में अपूर्व निष्ठा वाली गांधी-दृष्टि की अनिवार्य असफलता के बावजूद इतने गहरे और इतने गंदे गर्त में नहीं गिरे होते जिसमें हम नेहरूजी के कारण गिरे। निश्चय ही नेहरूजी दूसरों के सहयोग के बिना और देश के उस वर्ग के सहयोग के बिना जो शक्तिपीठों के निकट था, अकेले ही यह नहीं कर सकते थे। परन्तु वे देश में कलियुग के कुरूपतम रूप के अवतरण में नायक अवश्य बने। हमारी चेतना का जिस प्रकार पश्चिमीकरण और लोकायतीकरण (शल्यजी का यहाँ आशय चार्वाकीकरण से है) किया, जिस प्रकार शिक्षा-क्षेत्र की उपेक्षा की, वह सब उन्हीं की देन है (पृष्ठ 24)। नेहरू ने इस देश को विदेशी संस्कृति को आमूल सौंप दिया (पृष्ठ 73)।'

यहाँ शल्यजी नेहरूजी के वैचारिक पक्ष से पूर्णत: अंजान दिखते हैं। नेहरूजी ने भारत का उदार पश्चिमीकरण नहीं किया। इसका नियोजित विनाश एवं रूपांतरण किया, क्योंकि विचार के स्तर पर वे कम्युनिज़्म से प्रभावित थे, उदार पश्चिम से नहीं। राजनीति में उनकी हर चाल उदार पश्चिम के विरुद्ध और सोवियत संघ के पक्ष में थी। उदार पश्चिम को भारत से, भारतीयता से कभी भी घृणा नहीं रही है। भारत से घृणा (1) उन ख्रीस्तपंथी मिशनरियों को है जो पालीन क्रिश्चिएनिटी में दीक्षित हैं, (2) उग्रवादी इस्लाम को है तथा (3) कम्युनिस्टों को है। नेहरूजी इनमें से तीसरे थे और प्रथम दो का रणनैतिक साथ ले रहे थे। उदार पश्चिम पालीन क्रिश्चिएनिटी को ठुकरा चुका है। वहाँ इन मिशनरियों के विरुद्ध लगातार लिखा और बोला गया है–हज़ारों प्रसिद्ध पुस्तकों में। भारत में इनके विरुद्ध बोलना प्रतिबंधित है। वस्तुत: उदार पश्चिम के इहलोकवादी

दर्शनों का जन्म पॉलीन क्रिश्चिएनिटी की बर्बर अत्याचारी आस्था के अमानवीय पक्षों के विरोध में हुआ है। भारत में इन दर्शनों की भी पढ़ाई कहीं भी पूरे ऐतिहासिक सन्दर्भों के साथ नहीं होती, क्योंकि यहाँ इन दर्शनों के अध्यापनका प्रयोजन ज्ञानार्जन नहीं है, हिन्दू धर्म की अप्रतिष्ठा मात्र है। किसी भी आधुनिक यूरोपीय दर्शन को वहाँ के इतिहास से काटकर देखना केवल अज्ञान है।

शायद शल्यजी को पता नहीं कि निगुर्ट आंदोलन सोवियत रणनीति का एक अंग था। सभी पश्चिमी यूरोपीय देश और संयुक्त राज्य अमेरिका भारत को सोवियत ब्लॉक का एक अंग मानते थे। सोवियत संघ के टूटने के बाद भारत राज्य उस ब्लॉक से निकला है सो अब अमेरिका की चपेट में है। उसे भी समझने का प्रयास नहीं हो रहा।

नेहरूजी ने कम्युनिज़्म का साथ अपनी सत्ताकांक्षा के लिए ही दिया था, परन्तु वे वैचारिक स्तर पर भी उससे प्रभावित थे। यदि वे उदार पश्चिम से प्रभावित होते तो ऐसा नियोजित धर्मनाश कदापि नहीं करते। कम्युनिस्ट रणनीति की यह सफलता है कि हमारा सारा क्रोध उदार पश्चिम पर है, क्रूर कम्युनिज़्म पर नहीं, जबकि उदार पश्चिम कई अर्थों में हमारा मित्र है। शल्यजी का अमेरिका पर इतना गुस्सा भी कम्युनिस्ट प्रचार-तंत्र के प्रभाव का परिणाम है। संयुक्त राज्य अमेरिका में बहुत कुछ शुभ भी हो रहा है। उससे इतनी घृणा की कोई आवश्यकता नहीं। वह हमारे अभ्युदय में बाधक नहीं है।

शल्यजी का कहना है कि हमने जिस यंत्र-संस्कृति को अपनाया है उसके परिणामस्वरूप हमारा भटकाव बढ़ता ही जा रहा है और सम्भवत: हमारी सभ्यता असुरता की पर्यन्तता तक जाने को अभिशप्त है। हमने सोनिया गांधी को अपना वैचारिक पथ-प्रदर्शक बना रखा है, देश के बौद्धिक दिवालिएपन का इससे बड़ा प्रमाण और क्या होगा (पृष्ठ 76)। परन्तु सत्य यह है कि हमने यंत्र-संस्कृति को जितना अपनाया है उससे ज़्यादा अज्ञान, प्रमाद और विमूढ़ता को अपना रखा है, यदि 'हमने' से आशय शिक्षित प्रभावशाली लोगों से है तो।

शल्यजी सही कहते हैं कि शिक्षित समाज में भारतीय संस्कृति को लेकर दो अत्यन्त भ्रान्त मत फैले हुए हैं। एक मत का यह मानना है कि भारत में भारतीय संस्कृति की बात करना नितान्त निरर्थक है क्योंकि भारत में अनेक संस्कृतियां हैं और यह अनेक सांस्कृतिक समुदायों का समूह है। इस मत वाले लोग 'एक सांस्कृतिक धारा' पद का अर्थ समझने में ही असमर्थ हैं और इसीलिए वे भारत में वैसी सांस्कृतिक धारा नहीं देख पाते। इन्हें इस बात का पता होना चाहिए कि यूरोप अनेक राज्यों, राजनैतिक देशों का समूह है और उन देशों में हावों-भावों, रुचियों और अभिवृत्तियों को लेकर उससे कहीं अधिक भिन्नता है जैसी भारत में है, तब भी प्रत्येक संस्कृति-शास्त्री यूरोप के सभी देशों में 'यूरोपीय संस्कृति' ही देखते हैं। क्योंकि उन सब देशों में आदर्शों और पुरुषार्थों

विषयक एक ही दृष्टि है। इस दृष्टि को ही संस्कृति कहा जाता है। आज उदाहरण के लिए, इंग्लैण्ड में बहुत से एशियायी और अफ्रीकी समुदाय भी रहते हैं परन्तु उनके कारण इंग्लैण्ड संस्कृति-बहुल देश नहीं नहीं कहा जाता। वस्तुत: मुसलिम समुदाय को एक सीमा तक छोड़ते हुए, भारत के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। भारत में बहुत वैविध्य है परन्तु भारतीय संस्कृति की धारकशक्ति यूरोपीय संस्कृति से भी कहीं अधिक है और हमारी दृष्टि की व्यापकता भी उससे अधिक है। यह संस्कृति वैदिक ऋषियों और मुनियों द्वारा प्रणीत धाराओं तथा असंख्य उपधाराओं को सम्मिलित कर तथा साथ ही उनमें विभक्त होकर प्रवाहित होने वाली एक ही संस्कृति-सरिता है (पृष्ठ 77)।

यहाँ शल्यजी यह नहीं देख पाते कि जिस यंत्र-संस्कृति का उल्लेख वे कर रहे हैं, उसने ब्रिटेन, फ्रांस जर्मनी एवं अन्य यूरोपीय देशों को तो ऐसा विमूढ़ नहीं बनाया कि वे अपने देशों को संस्कृति-बहुल कहें, ज़बकि भारत में एक प्रभावशाली वर्ग भारत को ऐसा कहता है, जिसमें शल्यजी के अनेक मित्र भी हैं। तब इस विमूढ़ता का कारण वह यंत्र-संस्कृति तो नहीं ही है। इसकी जड़ें नेहरूजी और कांग्रेस के नेतृत्व में संचालित तथा संरक्षित उस कम्युनिस्ट बौद्धिकता में हैं जिसकी मूल प्रतिज्ञा भारत-द्रोह है। उदार पश्चिम तो भारत को हिन्दू राष्ट्र ही मानता है। वह यहाँ की संस्कृति को हिन्दू संस्कृति ही मानता है। हाँ, ईसाई मिशनरी, उग्रवादी मुसलमान और कम्युनिस्ट—ये तीनों भारत को संस्कृति-बहुल मानते हैं। मिशनरी मदर टेरेसा ने मेरी, श्री रामचन्द्र गांधी, श्री दिलीप कुमार-सायरा बानो, श्री अशोक वाजपेयी, श्री अर्जुन सिंह आदि की तथा संस्कृति विभाग के अनेक अधिकारियों की उपस्थिति में दिसम्बर 1992 में राजघाट, दिल्ली में सार्वजनिक सभा में कहा था कि भारत अनेक राष्ट्रीयताओं और अनेक संस्कृतियों का देश है। इस सभा के आयोजकों में भारत सरकार का संस्कृति विभाग भी था। मदर टेरेसा के उक्त कथन से विचलित सिर्फ श्री रामचन्द्र गांधी और मैं ही हुए थे। शेष सब सहमत थे।

आगे शल्यजी कहते हैं कि तब प्रश्न हो सकता है कि ऐसी अवस्था में मुसलमान इससे पृथक् क्यों हैं? वे भी इसके अंग या एक उपधारा क्यों नहीं माने जा सकते? शल्यजी कहते हैं कि इसके दो कारण हैं—एक तो यह कि इस्लाम की धर्म-दृष्टि समावेशी नहीं होकर बहिष्कारक है और दूसरा कारण राजनैतिक है। पहले अंग्रेज़ों ने और बाद में भारत के सेकुलरिस्टों ने राजनैतिक कारणों से मुसलमानों को बहिष्कारात्मकता के लिए लगातार उकसाया है। यदि सेकुलरिस्ट ऐसा करना छोड़ दें तो भारतीय मुसलमान क्रमश: अपनी बहिष्कारात्मकता सहज ही छोड़ देंगे (पृष्ठ 77-78)। यहाँ शल्यजी आस्थावान् ईसाइयों की चर्चा तक नहीं करते, ज़बकि वे भी उतनी

ही बहिष्कारक पंथदृष्टि वाले हैं। उदार पश्चिम की बात अलग है, वह प्रबुद्ध है, 'फ़ेथफ़ुल रेलिजस' नहीं।

शल्यजी का कहना है कि यदि हमारे देश को स्वस्थ समाज और स्वस्थ राष्ट्र बनना है तो मुसलमानों के भीतर व्याप्त बहिष्कारात्मकता का उपचार आवश्यक है। उनके अनुसार इसका एक ही उपाय है–'मुसलमानों का राजनीतिक अल्पमत का दर्जा समाप्त किया जाय और धर्म के सम्बन्ध में भारतीय परंपरा के अनुसार मुसलिम धर्म : इस्लाम : को ईश्वर को भजने की अनेक विधियों में से एक विधि के रूप में देखते हुए इसे वैष्णव, शैव, बौद्ध, जैन, सिक्ख, आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज के समान ही एक उपासना–विधि के रूप में देखा जाय। इसके लिए हमें अपनी राजनीतिक पदावली में से 'सेक्युलरिज़्म' शब्द को हटाना होगा, मुसलमानों को समान आर्थिक और सामाजिक अवसर देने होंगे और उन्हें अपने कर्त्तव्यों का बोध देना होगा। इसके लिए उन्हें अंतर्राष्ट्रीय इस्लाम से अलग होना होगा और भारत सरकार को इसके उपाय करने होंगे। वैचारिक रूप से इन दो समुदायों में संवाद, अर्थात् वाद–विवाद, आलोचना–प्रत्यालोचना के सम्बन्ध स्थापित करने होंगे। यह सब कठिन है, किन्तु एक बार दृष्टि स्पष्ट हो जाने तथा संकल्प शुद्ध और सशक्त हो जाने के बाद यह सब हो सकता है।' यहाँ सर्वत्र ईसाइयों और ख्रीस्तपंथ के विषय में शल्यजी मौन हैं, जबकि भारत के दो राज्य पूरी तरह मध्ययुगीन ख्रीस्तपंथी आस्था से शासित हो रहे हैं।

यहाँ एक बात अवश्य खटकती है कि शल्यजी को सम्भवत: यह स्मरण नहीं है कि हमारे वर्तमान में 'सेक्युलरिज़्म' शब्द आपातकाल में इन्दिरा गांधी द्वारा कम्युनिस्टों के कहने पर जोड़ा गया था और विश्व के किसी भी संविधान में राष्ट्र के गुणों, विशेषणों या राष्ट्रीय लक्ष्यों में 'सेक्युलरिज़्म' शब्द या पद को नहीं रखा गया है। दूसरी बात यह है कि भारत के जो सेक्युलरिस्ट समूह हैं वे किसी भी स्तर पर 'सर्वधर्म समभाव' को नहीं मानते हैं। वे तो स्पष्ट रूप में हिन्दुत्व को संसार की सबसे अवांछित वस्तु मानते हैं और हिन्दुत्व का बलपूर्वक तथा छलपूर्वक उच्छेदन या रूपान्तरण ही उनका अभीष्ट है। शल्यजी ने किस आधार पर 'भारतीय सेक्युलरिज़्म और सर्वधर्मसमभाव' लेख में यह लिखा है कि हमने 'सेक्युलरिज़्म' शब्द को 'राज्य की सब धर्म–सम्प्रदायों के प्रति समदृष्टि' के अर्थ में लिया है, यह स्पष्ट नहीं है। क्योंकि सेक्युलरिस्टों की नज़र में हिन्दुत्व कभी भी इस्लाम और ईसाइयत के समकक्ष नहीं बताया जाता। अधिकांशत: तो हिन्दुत्व को भयंकर राक्षस ही इन सेक्युलरिस्टों के द्वारा बताया जाता है और इस्लाम तथा ईसाइयत को इस भयंकर राक्षस के सामने आतंकित और सहमा हुआ प्रचारित किया जाता है। किसी भी स्थिति का सम्यक् स्वरूप स्मरण करने पर ही उस विषय में कोई दार्शनिक चिन्तन या विवेचन सम्भव है। भारतीय राजकोष से दिये गये शासकीय

अनुदानों से विभिन्न अल्पसंख्यक समुदाय, जिनमें सबसे बड़ी संख्या मुस्लिम मदरसों और ईसाई विद्यालयों की है, अपने-अपने मज़हब यानी इस्लाम और ईसाइयत, का भरपूर प्रचार कर सकते हैं, परन्तु किसी भी शासकीय विद्यालय में अभवा शासकीय अनुदान पाने वाले किसी भी अशासकीय विद्यालय में हिन्दुत्व की पढ़ाई की अनुमति नहीं है। यदि सर्वधर्मसमभाव या सर्वपंथसमभाव इन सेक्युलरिस्टों का अभीष्ट होता तब यह स्थिति कदापि नहीं होती। जहाँ तक भारत के मुसलमानों और ईसाइयों के अभारतीय मूल के होने की बात है, यह बात सत्य नहीं है। इस्लाम और ईसाइयत अवश्य अभारतीय मूल के हैं परन्तु मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, उत्तर-आधुनिकतावाद आदि भी तो अभारतीय मूल के ही हैं। जहाँ तक भारत के मुसलमानों और ईसाइयों की बात है, उनका बहुत बड़ा अंश, बल्कि लगभग सम्पूर्ण अंश ही, भारतीय मूल का है। ऐसे में इस्लाम और ईसाइयत को अलग से कोई दर्ज़ा देना किसी भी रूप में न तो धर्ममय है और न ही इसे किसी भी रूप में सेक्युलरिज़्म कहा जा सकता है। वस्तुतः शल्य जी अक्सर मूल तत्त्व को पकड़कर फिर छोड़ देते हैं।

शल्यजी ने यह प्रश्न सही ही उठाया है कि 'यदि आप सामाजिक रूप से भी पार्थक्य को संहिता-बद्ध करते हैं तब आप सेक्युलरिज़्म की बात क्यों करते हैं? यह तो सम्प्रदायवाद को पुष्ट करना हुआ। किन्तु इन सेक्युलरिस्टों ने मुसलमानों को सामाजिक रूप से ही पृथक् और इस प्रकार असुरक्षित मानसिकता में नहीं रखा बल्कि वैचारिक युक्ति-वितर्क और आलोचना-प्रत्यालोचना के खुलेपन से भी अलग रखा और वह भी धार्मिक स्वतंत्रता के नाम पर। यदि राम और कृष्ण की आलोचना से तथा असवर्णों और विधवाओं के प्रति हिन्दुओं के व्यवहार की आलोचना से हिन्दू धर्म का कुछ नहीं बिगड़ता तो कुरान की आलोचना करने से मुसलमानों को खतरा कैसे उत्पन्न हो सकता है? यदि कहें कि 'किन्तु मुसलमान को यह सह्य नहीं है' तो यह मुसलमानों का दोष ठहरा, इसमें उन्हें बढ़ावा क्यों दिया जाए? इसमें स्वामी दयानंद का **सत्यार्थप्रकाश** एक आदर्श उदाहरण प्रस्तुत करता है जिसमें उन्होंने मुसलिम धर्म-मत की उसी भाव से आलोचना की है जिस भाव से विभिन्न हिन्दू-मतों और अन्य 'पंथों' की। उससे हिन्दुओं में प्रखर तर्क-वितर्क, खंडन-मंडन का सिलसिला चला, मुसलमान उसमें सम्मिलित नहीं हुए किन्तु उन्होंने कोई दंगा भी नहीं किया। यदि सरकार यह स्पष्ट घोषणा कर दे कि शुद्ध वैचारिक आलोचना पर दंगा सहन नहीं किया जाएगा और दंगा करने वालों को कानून भंग करने वालों के रूप में दंडित करे तो जल्दी ही एक स्वस्थ वैचारिक वातावरण बनने लगेगा, जो मुसलमानों कि लिए भी हितकर ही होगा। किन्तु हमारे तथाकथित सेक्युलरिस्टों ने मुसलमानों को खुली हवा से दूर रखने में ही अपना लाभ समझा है। सरकार ने सलमान रश्दी के 'सेटेनिक वर्सेज' (शैतानी आयतें)

उपन्यास पर पाकिस्तान से भी पहले और बिना कुछ सोचे-समझे, प्रतिबंध लगा दिया था और शाहबानो केस पर उच्चतम न्यायालय के निर्णय को लोकसभा में पलट कर अपना सेक्युलरिज़्म सिद्ध किया था। ये दो घटनाएँ वास्तव में उस साधारण व्यवहार के दो उदाहरण हैं जो स्वतंत्रता के बाद हमारे इन तथाकथित सेक्युलरिस्टों ने मुसलिम कठमुल्लापन बनाए रखने के लिए अपनाया' (पृष्ठ 142-143)।

वस्तुत: शल्यजी ने समकालीन राष्ट्रीय परिवेश की मूल समस्याओं पर दार्शनिक गहराई से सम्यक् विचार किया है, यद्यपि समाधान सुझाते समय उनमें वैसी स्पष्टता नहीं दिखती। परन्तु समस्या का सम्यक् निदान स्वयं में बड़ी बात है।

एक बात तो यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि शल्यजी ने जहाँ गांधीजी के वास्तविक स्वरूप को उद्घाटित किया है वहीं उनकी अपर्याप्तताएं भी सम्यक् रूप में संकेतित की हैं। साथ ही वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि 'महात्मा गांधी कोई धर्म-प्रवर्तक नहीं थे। वे तो केवल धार्मिक थे-शुद्ध और सनातन धर्म के अनुयायी। किसी धार्मिक सिद्धान्त के प्रतिपादक नहीं, बल्कि धर्मतत्त्व के ध्यायी' (पृष्ठ 4)। वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि स्वाधीनता-संग्राम में गांधीजी की सफलता केवल उनकी अलौकिक शक्ति की ही द्योतक है, समाज की चेतना में गांधी-दृष्टि के संक्रमण की नहीं (पृष्ठ 75)।

रेलवे, विमान आदि की और अस्पतालों तथा आधुनिक एलोपैथ चिकित्सा की गांधीजी द्वारा की गई आलोचनाओं की गलतियां शल्यजी दिखाते हैं। इसी प्रकार पार्लियामेन्ट के विरुद्ध गांधीजी का तर्क वे अयुक्तियुक्त ठहराते हैं। परन्तु साथ ही वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि जिस प्रजातंत्रवाद की एक संस्था यह पार्लियामेन्ट है वह प्रजातंत्रवाद ही सदोष दर्शन पर आधारित है, गांधीजी द्वारा यह दिखाना युक्तियुक्त होता। इसी प्रकार अख़बारों के विरोध में गांधीजी का तर्क वे कमजोर पाते हैं, जबकि उस विषय में उनकी दृष्टि को वे पूर्णत: सही पाते हैं। शल्यजी लिखते हैं-"अख़बार की अवांछनीयता या दोष यह है कि वह राजनीति को हमारी चेतना में केन्द्रीय और अत्यधिक असंतुलित महत्त्व के पद पर प्रतिष्ठित करता है। वह बहुत अधिक सशक्त जनमत-निर्धारक साधन है और ग़लत हाथों में होने पर जनमत को भ्रान्त दिशा देकर बहुत हानिकारक सिद्ध हो सकता है, और आज बहुत कुछ ऐसा ही सिद्ध भी हो रहा है (पृष्ठ 9)।" परन्तु अख़बार का दोष राजनीति को केन्द्रीयता एवं प्रधानता देना उतना नहीं है, जितना यह कि राजनीति को केन्द्रीय मानते या बताते हुए भी अख़बार उसके विषय में नितान्त अगम्भीर और उथले ढंग से बताते हैं। प्रारम्भ में जो गम्भीर विश्लेषण किसी-किसी भारतीय अख़बार में होते भी थे, वे अब पूर्णत: बन्द हैं। इन दिनों भारतीय अख़बार, जिनमें अंग्रेज़ी अख़बार शामिल हैं, पाठकों को न तो विश्वराजनीति की कोई वास्तविक जानकारी देते हैं न ही भारतीय राजनीति की। वे या तो इस या उस पक्ष के

निम्नस्तरीय प्रचारक बनकर रह गए हैं या फिर अश्लीलता, विकृति और अपराध के प्रचारक हो गए हैं, तथा इन दोनों प्रकार के कामों में अत्यधिक गौरव का अनुभव करते हैं। ऐसा एक भी अख़बार, कम से कम हिन्दी या अंग्रेज़ी में, आज नहीं है जो गम्भीर राजनैतिक विश्लेषण प्रस्तुत करता हो या फिर जो ऊपरी घटनाओं की तह में सक्रिय प्रवृत्तियों और शक्तियों का उद्घाटन करने वाली रिपोर्टिंग करता हो। अख़बारों में राजनीति के प्रति दृष्टि के उथलेपन की आश्चर्यजनक और भयावह एकरूपता है– समकालीन हिन्दी साहित्य की तरह। अत: भारतीय अख़बारों का दोष वस्तुत: भारतीय शिक्षित मध्यवर्ग में व्याप्त बौद्धिक अल्पता तथा प्रमाद के दोष हैं, वे मीडिया के अंतर्निहित दोष नहीं हैं। मीडिया समाज में विवेक की प्रतिष्ठा करे और बौद्धिक समृद्धि की प्रेरणा जगाए, यह भी सहज सम्भव है। भारतीय मीडिया ऐसा नहीं कर रहा तो इसकी जड़ें अख़बार में नहीं, शिक्षा–क्षेत्र में शासन द्वारा थोपी गई संकीर्णता, मतिमन्दता और स्थूलता में हैं।

शल्यजी यह तो स्पष्ट करते हैं कि प्रजातंत्र का चौथा पाया–प्रचार माध्यम, मुख्यत: समाज की निकृष्ट प्रवृत्तियों के प्रचार का माध्यम है और इससे इन्हीं को अधिकांश में बढ़ावा मिलता है। लोकप्रियता के लिए यह लोमहर्षक, आपराधिक, कामोत्तेजक और अन्य सब प्रकार की अनैतिक बातों को समाचार रूप में प्रस्तुत करता है। इसमें राजनेताओं, अभिनेताओं, खिलाड़ियों और ऐसे ही अन्य तत्त्वों को मूर्धाभिषिक्त किया जाता है, चिंतकों, साहित्यिकों या मनीषियों को नहीं। इसके आविर्भाव से पहले समाज में दार्शनिक, कवि और संत ही प्रतिष्ठा पाते थे, राजा, अभिनेता, खिलाड़ी और गणिकाएँ नहीं। तब वे समाज में सहज–प्राकृतिक प्रवृत्तियों या दोषों के रूप में देखे जाते थे, प्रतिष्ठितों के रूप में नहीं (पृष्ठ 54)। परन्तु मीडिया ऐसा हो, यह कोई अनिवार्यता नहीं है। यद्यपि वह आज ऐसा ही है, यह तथ्य है।

तीन लेखों में प्रजातंत्रवाद का पुनरालोचन करते हुए वे उस पर पुनर्विचार का प्रस्ताव करते हैं। वे स्मरण दिलाते हैं कि "हमारे तथाकथित प्रबुद्ध वर्ग में यूरोप के इतिहास को मानव–मात्र का इतिहास मान लेने की दृष्टिहीनता है (पृष्ठ 47)।" यहाँ मैं इतना और जोड़ना चाहूँगा कि यह तथाकथित प्रबुद्ध वर्ग वस्तुत: यूरोप के इतिहास से भी परिचित नहीं है और अधिक गहराई में उसके वर्तमान से भी नहीं तथा इसीलिए उसके भविष्य की झलक भी उसे नहीं दिख पाती। यूरोप शताब्दियों तक सनातन धर्मी (पेगन) रहा है। ख्रीस्तपंथी तमस ने 700 वर्षों (11वीं से 17वीं शती ईस्वी) तक यूरोप की अन्तश्चेतना को ग्रसा। रेनेसाँ के माध्यम से यूरोप इस तमस से क्रमश: मुक्त हुआ और हो रहा है। उसका भविष्य पुन: उसके सनातनधर्मी (पेगन) और बहुपंथवादी,

बहुदेववादी होने में है। इसमें आज सर्वाधिक बाधा उग्रवादी इस्लाम डाल रहा है क्योंकि वह घोर तमस की समसामयिक अभिव्यक्ति है।

शल्यजी बताते हैं कि भारत का विमूढ़ प्रबुद्ध वर्ग, जो यूरोप के ख्रीस्तपंथी इतिहास को ही सम्पूर्ण यूरोप और सम्पूर्ण विश्व का समग्र इतिहास समझता है, आधुनिक काल से कुछ सौ वर्ष पहले के विश्व को ''नृशंस, धर्मान्ध आदि के पर्याय के रूप में मध्ययुगीन कहता है'' (पृष्ठ 46-47)। परन्तु जहाँ तक नृशंसता की बात है, पिछले किसी युग ने मुसोलिनी, हिटलर, स्टालिन, ट्रूमेन-डलस-मैकार्थी जैसे नृशंस शासक शायद ही दिये हों'' (पृष्ठ 47)।

शल्यजी कहते हैं कि प्रजातंत्र को जनता के द्वारा, जनता के लिए, जनता का राज्य कहा जाता है। परन्तु इस कथन में 'जनता' का अर्थ समष्टि-जन या संस्कृति-जन नहीं है अपितु 'प्रत्येक व्यक्ति' इसका अर्थ है। परन्तु 'प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा राज्य' 'प्रत्येक व्यक्ति के लिए' नहीं हो सकता। क्योंकि व्यक्तियों में योग्यता-भेद और स्वार्थ-भेद एक तथ्य है। व्यवहार में प्रजातंत्र 'समर्थ व्यक्तियों के द्वारा' सम्पूर्ण समाज पर राज्य करने का ही पर्याय होता है। फिर इसमें व्यक्ति मुख्यत: शरीर से परिभाषित है। परन्तु, व्यक्तित्व को शरीर से परिभाषित करने में तो प्राणीमात्र व्यक्ति कहलाने के दावेदार हो सकेंगे। मनुष्य का विच्छेदक गुण है 'विचार'। परन्तु विचार की अन्तर्वस्तु सार्वभौम होती है। इसी प्रकार अनुभूति और भावना को व्यक्तित्व का आधार कहा जा सकता है। इसमें संवेदों के अनुभव तथा प्रेम या द्वेष के अनुभव सम्मिलित हैं। परन्तु अनुभवों की अंतर्वस्तु भी तो सार्वभौम होती है। इस प्रकार वस्तुत: 'सांस्कृतिक अस्मिता' का प्रतिनिधित्व करने वाला कोई राज्य ही सम्बन्धित प्रजा का तंत्र कहा जा सकता है। परन्तु प्रजातंत्र के चलताऊ विचारों में 'सांस्कृतिक अस्मिता' का कोई भी सन्दर्भ या विचार अनुपस्थित है। वर्तमान में प्रजातंत्र में विचारकों के रूप में भी प्रचारक (प्रोपेगेण्डिस्ट) ही सर्वोपरि माने जाते हैं तो मीडिया इन्हें ही विचार-नेता तथा आचार-नेता बनाकर प्रस्तुत करता है। इसका यह अर्थ नहीं कि शल्यजी राजतंत्र के पक्षधर हैं। अपितु वे इस सत्य पर बल देते हैं कि 'प्रजातंत्र निरपेक्ष रूप से उत्कृष्टतर नहीं है।' (पृष्ठ 47)।

वे बताते हैं कि वर्तमान प्रजातंत्रवाद का आधारभूत सैद्धान्तिक दोष यह है कि यह सब व्यक्तियों की समानता को पूर्वगृहीत करता है, जो व्यक्ति इसके अनुसार स्वभावत: जीव-धर्मी तथा स्वार्थान्वेषी होते हैं। यह प्रजातंत्रवाद इस्लामी-क्रिस्तानी 'धर्मान्धता' की तुलना में तो उदार है परन्तु 'धर्म' का जो मूल अर्थ है-ऋत और सत्यपरक, उसकी दृष्टि से यह प्रजातंत्र अधर्माश्रित है, यानी अनृत और असत्य का पोषक है। प्रजातंत्रवादी दृष्टि स्वरूपत: नैतिकता से रहित और स्वार्थ तथा बल पर आधारित है, जिसके कारण

पिछली अन्यायपूर्ण व्यवस्था का विस्थापन अगली अन्यायपूर्ण व्यवस्था करती रहती है, न्याय-व्यवस्था लाने का कहीं कोई प्रयास नहीं होता। इस प्रकार यह प्रजातंत्रवाद इस्लामी-क्रिस्तानी धर्मान्धता को विस्थापित कर 'वर्गमूलक स्वार्थ' को स्थापित करता है, जो कि मनुष्य को पशुवत् देखना ही है-पशु से कहीं प्रबलतर पशु की तरह मनुष्य को देखना। फलस्वरूप आज पहले से कई गुना अधिक आर्थिक असमानता है तथा आज के धनी लोग धन का जैसा दुरुपयोग करते हैं वह पुराने समय में अकल्पनीय था। इसी प्रकार राज्यशक्ति का दुरुपयोग आज के प्रजातंत्र में उससे कहीं अधिक होता है जितना पुराने सामंतों में देखा जाता था। क्योंकि तब समाज में राज्य का कार्यक्षेत्र इतना व्यापक नहीं था (पृष्ठ 53-54)। यहाँ शल्यजी यह या तो स्मरण नहीं रख पाये या उल्लेख नहीं कर पाये कि इस प्रजातंत्रवाद के मूल संचालक स्वयं को पशुवत् नहीं देखते अपितु इन पशुओं का चरवाहा ही खुद को मानते हैं। इस विश्वास की जड़ें पालीन क्रिश्चिएनिटी की उस आस्था में हैं जो अपने पंथ-प्रवर्तक को गडरिया तथा शेष मनुष्यों को भेड़ें (गाडूर) मानती है। वस्तुतः सभी जानकार जानते हैं कि कम्युनिज़्म क्रिश्चिएनिटी का ही परिशिष्ट है।

शल्यजी कहते हैं-'आज के ये राजा उसी प्रजा को खुल्लमखुल्ला लूटते हैं जिसके प्रतिनिधि होने का ये दावा करते हैं। कानून के शासन की बात की जाती है परन्तु वास्तव में यह एक वेश्या जैसी है जो निर्लज्जता से शठों और साधन-सम्पन्नों का ही साथ देती है (पृष्ठ 54-55)।'

'हमारी राजनीतिक परिस्थिति' शीर्षक लेख में शल्यजी ने मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, प्रत्यक्षवाद, लोकभाषा-विश्लेषणवाद, फिनॉमिनॉलाजी आदि की संक्षिप्त चर्चा करते हुए दिखाया है कि 'तकनीकी और लोक-साधारण-बुद्धि में ही प्रमाण-भावना होना बहुत बड़ा अंधविश्वास है, सो भी मनुष्यों को, यानी लोक को ही विषयतंत्र यानी इन्द्रियपरायण मन वाली बुद्धि से तदात्म देखना। भारत में भी शिक्षाजगत् के अग्रणी तथा शासक लोग इसी अंधविश्वास को समर्पित हैं। यहाँ तक कि राज्य-व्यवस्था अध्यात्म के नियमन में चले, यह मानने वाला राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ भी ऐसे ही देहेन्द्रिय-मन तक सीमित व्यक्तियों को सब कुछ मानने वाले प्रजातंत्रवाद का समर्थक है, तपःपूत एक आत्मा की आवाज़ के सामने करोड़ों आवाज़ों को निरर्थक मानने वाले गांधीजी के अनुयायी मोरारजी, चरणसिंह जैसे राजनेता भी इसी भीड़तंत्र के समर्थक थे और जयप्रकाश नारायण का लोक-समितियों का तथा 'सिटीज़ंस् फॉर डेमोक्रेसी' का विचार भी भीड़तंत्र का पोषक था। जबकि इस तंत्र में 'वॉच डॉग्स' वस्तुतः 'हाउंड्स' होते हैं और वे अपने ऊपर के 'हाउंड्स' को दाँत दिखाकर, मांस के लोथड़े अपने साथ बाँटकर खाने को बाध्य करते हैं।' इस भीड़तंत्रवाद का विकल्प तो

अभी शल्यजी नहीं देख पा रहे परन्तु इतना ज़रूर कह रहे हैं कि सामाजिक और धार्मिक संस्थाओं को विधिविहित प्रतिष्ठा मिले, राज्यशक्ति उनका विधिक स्तर पर भी आदर करे, शिक्षण संस्थाएँ अध्ययनमूलक संगठनों द्वारा चलें, राजनीति का क्षेत्र और स्थान न्यूनतम हो।

शिक्षा और संस्कृति संबंधी चार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लेखों में शल्यजी इन विषयों पर गहरी विवेचना करते हैं। वे कहते हैं–'शिक्षा का कार्य विमर्श-बुद्धि का विकास होना चाहिए। परन्तु उससे अधिक आवश्यक है कि शिक्षा सद्-असद् की पहचान करने वाली सहज बुद्धि को उद्‌बुद्ध करे। आज समाज में परिवर्तन की गति का मूल बाह्य उपकरणों के आविष्कारों में है और शिक्षा में भी परिवर्तन पाठ्य-विषयों में परिवर्तन के रूप में हो रहा है। परन्तु इससे दृष्टि का पैनापन बढ़ रहा हो, ऐसा बिल्कुल नहीं है। पारम्परिकता और गतिशीलता का भेद यदि पाशव चेतना के स्तर पर ही रहे, जैसा वह अभी है, तो यह भेद ठीक वैसा ही है जैसा एक जानवर जुगाली कर रहा हो–दूसरा झटपट माँस चबा रहा हो, बस।' वे अपने एक मित्र का उदाहरण बताते हैं जो अमेरिका घूमकर आए तो वहाँ की प्रशंसा में डूबकर बताने लगे कि वे लोग सप्ताह में पाँच दिन बारह-बारह घण्टे कड़ी मेहनत करते हैं और दो दिन क्लबों, पिकनिक स्थलों में मौज-मस्ती करते हैं। शल्यजी ने पूछा कि वे लोग सोचते कब हैं, तो उक्त सज्जन चुप हो गए। शल्यजी लिखते हैं 'मुझे उस जीवन-विधि के वर्णन से सचमुच आतंक अनुभव हुआ' (पृष्ठ 163)। वे कहते हैं—कठोर परिश्रम तो भारतीय समाज में भी सदा से ही रहा है, परन्तु वह आत्ममननात्मक भी साथ-साथ था और मनोरंजन भी साथ-साथ था। वह मनोरंजन से कटा हुआ नहीं था और मननात्मकता से रहित भी नहीं था। जबकि अमेरिकी किस्म की बदहवास गतिशीलता तो समाज के लगभग सर्वांश को नन और मनन का अवसर ही नहीं देती तथा मनोरंजन को कार्य से काटकर एक पृथक् क्षेत्र बनाती है। वे यहाँ यह भी स्मरण करते हैं कि भारत में तंत्र, ज्योतिष और योग की विभिन्न शाखाओं के विकास के रूप में तथा धार्मिक एवं आध्यात्मिक दृष्टियों के विकास के रूप में आंतरिक तथा अलौकिक गतिशीलता आज भी है। वे बताते हैं कि धर्माधर्म-विवेक का सच्चा उत्कर्ष शिक्षा का सार्वभौम उद्देश्य होना चाहिए जो अन्य सब प्रकार की शिक्षा का सहगामी है। संस्कृति के विषय में शल्यजी स्पष्ट करते हैं कि वह परिभाषित अपनी परमार्थदृष्टि से ही होती है, तब भी संस्कृति मनोमयस्तरीय भी होती है और उस स्तर का आत्मविमर्श भी सांस्कृतिक ही होता है—शास्त्र, साहित्य, कलाएँ आदि। वे यह भी क़हते हैं कि हिन्दू पराजित केवल सैनिक पक्ष में ही हुए हैं, हिन्दू संस्कृति आज भी जीवित है।

शल्यजी के ये सभी तर्क एक सत्यनिष्ठ और गम्भीर निर्भीक दार्शनिक के तर्क हैं। परन्तु जब हम शल्यजी द्वारा तथाकथित हिन्दू उग्रवादियों, बजरंगियों आदि का वर्णन

पढ़ते हैं तब आश्चर्य होता है। इस दृष्टि से शल्यजी का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लेख है– 'निवेदन – राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से'। इसमें शल्यजी कहते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अपने को एक राष्ट्रीय और सांस्कृतिक संस्था कहता है तथा कहा जा सकता है कि यह संस्था ऐसी ही है। परन्तु उसे राष्ट्रीयता और संस्कृति के विषय में सम्यक् ज्ञान नहीं है। शल्यजी का कहना है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सदस्य बड़े निष्ठावान् देशभक्त होते हैं और भारतीय संस्कृति की रक्षा में ही देश की रक्षा देखते हैं। किन्तु इन विषयों पर वे लोग आधारभूत भ्रान्तियों में पड़े हैं। शल्यजी का मानना है कि संघ के लोग हिन्दुत्व को मुसलिम–ईसाई के विरोध से परिभाषित करते हैं। इसी प्रकार शल्यजी के अनुसार संघ वाले हिन्दुत्व के प्रतीकों के रूप में ऋषियों, मुनियों और संतों को, वाल्मीकि, वेदव्यास और कालिदास को, मर्यादा पुरुषोत्तम राम, श्री मद्भगवद् गीता के उपदेष्टा श्रीकृष्ण, राधावल्लभ तथा गोपीवल्लभ श्रीकृष्ण को नहीं देखते।

सेक्युलरिस्ट प्रचारतंत्र के प्रभाव से शल्य जी भी संघ के बारे में भ्रान्त धारणाओं से प्रभावित हैं। सत्य यह है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ संस्कारी एवं देशभक्त हिन्दुओं के अनेक संगठनों में से एक है जो आकार की दृष्टि से सबसे बड़ा है। परन्तु वह कोई विचार–प्रधान संगठन नहीं है। वह भाव–प्रधान संगठन है। जैसा स्वयं शल्यजी ने कहा है कि ''संघ के स्वयंसेवक बड़े निष्ठावान् देशभक्त होते हैं और भारतीय संस्कृति की रक्षा में ही देश की रक्षा देखते हैं।'' विचारप्रधान संगठन तो दर्शन, धर्म, अध्यात्म के क्षेत्र में ही हुआ करते हैं।

यदि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर कलम चलानी ही है तो उत्तम होता कि शल्यजी जयपुर में कभी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्यालय हो आते या किसी बड़े सम्मेलन में घूम आते। पता नहीं किस आधार पर वे भी, सेक्युलरिस्टों तथा कम्युनिस्टों की तरह संघ के विषय में यह लिख रहे हैं कि वह केलव शिवाजी और राणा प्रताप को देखता है और हिन्दुत्व को मुस्लिमत्व की सापेक्षता में परिभाषित करता है। यह एक निराधार कथन है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में नित्य प्रात: 'भारत एकात्मकता स्तोत्र' का पाठ होता है जिसमें वैदिक काल के ऋषियों से लेकर महात्मा गांधी और संघ संस्थापक डॉक्टर हेडगेवार, श्री गुरुजी तक सभी महान नर–नारियों, ऋषियों, मुनियों, चिन्तकों, शूरवीरों, धर्मवानों, भक्तों, सिद्धों, प्रज्ञावानों, राजाओं, रानियों, श्रेष्ठजनों, संतों, कवियों, समाज–कल्याण के महत्त्वपूर्ण कार्य करने वाले सभी मनीषियों का नित्य श्रद्धापूर्वक स्मरण होता है। यह उनकी दैनंदिन क्रिया का एक अनिवार्य अंग है।

वस्तुत: हिन्दू समाज की प्राथमिकताओं में इस्लाम का विरोध नहीं शामिल है। यह तो सेक्युलरिस्ट मीडिया है जो केवल उन्हीं बातों का उछालता है। हिन्दू समाज की प्राथमिकताएँ तो धर्म का उत्कर्ष, राष्ट्र का उत्कर्ष और समाज को व्याधिमुक्त बनाना

है। हाँ, उग्रवादी इस्लाम के सेवक सेक्युलरिस्टों को धर्म के इन कार्यों से कष्ट है अतः वे उक्त अप्रचार करते रहते हैं। हिन्दू समाज सबल स्वस्थ रहा तो वह मुसलिम उग्रवाद सहित सभी प्रकार के उग्रवादों, आक्रमणों, अत्याचारों एवं अनीतियों का हनन कर सकेगा। यही उसकी करुणा की प्रज्ञासम्पन्न अभिव्यक्ति होगी। इसके लिए रात-दिन शोर की ज़रूरत नहीं है।

हमारे राज्यतंत्र की वर्तमान संरचना में कहीं भी भारतीय बुद्धि एवं भारतीय प्रतिभा के लिए कोई विशेष अवकाश नहीं है, विलक्षण प्रतिभाओं के लिए कोई स्थान नहीं है। यह हमारी मुख्य समस्या है। बुद्धिमान्, प्रतिभावान्—सब कुछ उसे ही माना जाता है जो यूरोख्रीस्तानी दर्शनों, विद्या-परम्पराओं, सभ्यतारूपों आदि पर अविचारित यानी विवेकशून्य आस्था रखे तथा अपनी स्मरणशक्ति, ग्रहणशक्ति, धारणशक्ति, विश्लेषणशक्ति, निर्णयशक्ति एवं प्रबन्धशक्ति इसी आस्था के पोषण में नियोजित रखे। पाठ्यक्रम, परीक्षाएं, प्रावीण्य-निर्धारण आदि सब इसी दृष्टि से तथा इसी रूप में यहाँ निर्धारित हैं। यह निर्धारण प्रजातंत्र के द्वारा या प्रजातंत्र के कारण नहीं किया गया है। यह तो छलपूर्वक और बलपूर्वक किया गया है। नेहरू जी किसी भी रूप में भ्रष्ट नहीं थे और दुर्व्यसनी भी नहीं थे। परन्तु एंग्लोसेक्सन लॉ के केवल ऐहिकरूप को भारतीय राज्य का आधार बनाए रखा जाए, यह निर्णय उन्होंने तथा उनके समूह ने किया। भारतीय मतदाताओं को संविधान सभा के किसी भी सदस्य ने कभी भी यह नहीं बताया था कि स्वाधीन भारत में भारतीय विद्या-परम्परा, अध्यात्म-परम्परा, ज्ञान-परम्परा, संस्कृति-परम्परा की कोई भी विधिक स्थिति नहीं रहेगी, ऐसा संविधान हम रच रहे हैं। इसके लिए भारतीय मतदाताओं से कभी अनुमति भी प्राप्त नहीं की गई। इसलिए इस निर्णय को छलपूर्वक और बलपूर्वक लिया गया निर्णय ही कहा जायेगा। इस दृष्टि से यह संविधान किसी भी प्रजातंत्रवाद का परिणाम नहीं है। हाँ, यह भारतीय विधि सम्बन्धी विलक्षण प्रतिभा के अभाव में रचित संहिता अवश्य है। इसमें सौ से अधिक संशोधन हो चुके हैं। परन्तु इसमें राज्य को परिभाषित करने वाला, राज्य और समाज के सम्बन्धों को परिभाषित करने वाला, राष्ट्राध्यक्ष को हिन्दू धर्म का विधिविहित संरक्षक बनाने वाला, भारतीय विद्या-परम्परा, ज्ञान-परम्परा, संस्कृति-परम्परा और अध्यात्म-परम्परा का विधिविहित संरक्षण भारतीय राज्य का अनिवार्य कर्त्तव्य बताने वाला एक भी संशोधन कभी संसद में प्रस्तुत तक नहीं किया गया। इस संशोधन की प्रस्तुति में कोई भी वैधानिक बाधा नहीं थी। भारतीय सांसदों में ऐसी विलक्षण बुद्धि का अभाव होना ही इसकी राह में एकमात्र बाधा थी, जबकि सेक्युलरिज़्म और सोश्यलिज़्म जैसे अबूझ प्रत्यय बिना परिभाषा के संविधान में संशोधनों के द्वारा जोड़े गए। अगर ऐसे नितान्त अस्पष्ट प्रत्यय संशोधनों द्वारा जोड़े जा सकते हैं तो सुस्पष्ट, विवेकपूर्ण संशोधनों में

क्या बाधा है? अत: समस्या विलक्षण प्रतिभाओं की इन राज्यांगों में अनुपस्थिति की है और ऐसी अनुपस्थिति बनाए रखने वाली शिक्षातंत्र की संरचना तथा राज्यतंत्र की संरचना की है। केवल आहार-विहार तथा आर्थिक व्यवहार में भ्रष्टाचार नहीं होने से यह समस्या सुलझने वाली नहीं है। ऐसे संशोधनों को भारतीय राजतंत्र में बहुमत का समर्थन अवश्य मिलेगा। अत: इनका न लाया जाना प्रजातंत्रवाद का दोष नहीं है।

भारत में राजनीति या राज्य-संचालन के क्षेत्र में भारतीयता को सहज प्रतिष्ठा दिलाने वाली प्रबल पुरुषार्थ-सम्पन्न प्रतिभाएँ क्यों नहीं आ पा रहीं, यह विचार का विषय है। धर्म, दर्शन, अध्यात्म और संस्कृति क्षेत्रों की प्रतिभाएं राजनीति और राज्यतंत्र पर ऐसा प्रभाव क्यों नहीं डाल पा रहीं कि राजनीति और राज्य-संचालन के क्षेत्र में ऐसी पुरुषार्थी प्रतिभाएं उभरें, यह विचार का विषय है। मेरी समझ से तप की कमी इसका एक कारण है। दूसरा कारण है—कालप्रवाह, यानी भगवदिच्छा। हो सकता है शल्यजी कोई अन्य कारण बता सकें।

विचार का काम आध्यात्मिक विभूतियों, धार्मिक आचार्यों तथा कतिपय प्रतिभाशाली प्रबुद्धों का है। यह काम बहुत एकाग्रता, शान्ति, प्रतिभा, साधन तथा सामर्थ्य मांगता है। एक गहरे स्तर पर यह कार्य भारत में लगातार चल रहा है। परिणाम दिखने में समय लगता है। उस विचार के वाहक भिन्न-भिन्न संगठन अपने-अपने स्तर पर बनते हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ऐसा ही एक संगठन है पर एकमात्र संगठन नहीं। अनेक अन्य सांस्कृतिक संगठन भी इसी प्रकार के वाहन हैं। वास्तविक परिवर्तन तो अलौकिक स्तर पर, अलौकिक शक्ति से घटित होना है, घटित होते हैं। बेचारे नेहरू या अन्य नेताओं पर शल्यजी व्यर्थ ही भार डाल रहे हैं। ये बेचारे साम्राज्यवादी संरचनाओं के ध्वंसावशेष हैं। भाजपा के वर्तमान अधिकांश नेता भी भिन्न नहीं। परन्तु राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भारतीय सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति का, अनेकों में से एक सशक्त माध्यम है। शल्यजी जैसे दार्शनिक उस अभिव्यक्ति के अन्य माध्यम हैं। विविध आध्यात्मिक संगठन उसके ही माध्यम हैं। धर्म, योग, दर्शन, अध्यात्म, शास्त्रीय संगीत, शास्त्रीय नृत्य, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति की साधनाएं भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियां ले रही हैं। साहित्य, राजनीति, शिक्षा एवं संचार-माध्यमों में अभी भारतीय विचार लगभग अनुपस्थित है या सीमांत पर है। परन्तु समाज-जीवन में पूर्त्त कर्मों की परम्परा प्रवाहित है और उसका नवोन्मेष होता दिख रहा है। कभी भी सामाजिक जीवन में भारतीय संस्कृति का आग्रह प्रबल हो सकता है। तब उसके प्रबुद्ध लोग, भारतीय तत्त्वचिंतन एवं धर्म-दर्शन के प्रति भी उन्मुख होंगे। उसके बाद, वे राजतंत्र एवं राजनीति को भी भारतीय बनाना चाहेंगे। इसके लिए वैश्विक परिस्थितियां अनुकूल हैं। यूरोपीय पैगन-आन्दोलन, विज्ञान की नवीनतम खोजें, यूरोपीय स्त्री-

आन्दोलन, पर्यावरण-आन्दोलन आदि की अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियाँ और प्रवृत्तियां इस वैश्विक अनुकूलता के कतिपय लक्षण हैं। 'स्वाध्याय-दृष्टि का मर्म' लेख में ईश्वरत्व-बोध के जिस अतिक्रामी याथार्थ्य का उल्लेख शल्यजी ने किया है, उस अन्तर्गर्भबोध का उत्कर्ष ही भारत को आत्मप्रतिष्ठ करने वाला है। शल्यजी का चिंतन भी उसमें एक निमित्त ही बनेगा, यही इसकी सार्थकता है।

भारतीय राजनीति में जिस दिन भारतीयता का वास्तविक प्रभाव प्रबल होगा, उसके कुछ दिनों के भीतर भारतीय राज्य की संरचना और संविधान अनिवार्यतः भारतीय हो जायेंगे। अभी सेक्युलराइज़्ड एवं विकृत यूरोक्रिश्चियन लॉ का वाहक संविधान है और औपनिवेशिक ढाँचे वाली राज्य-संरचना है। इसमें अलग-अलग दलों के बीच कुछ भेद तो हैं, पर कोई आधारभूत भेद हो ही कैसे सकता है? आख़िर, इन दलों में नब्बे प्रतिशत समानताएं हैं। नारों और कतिपय नीतियों के मामूली भेदों को अधिक महत्त्व देना दार्शनिक जनोचित नहीं है। इनकी आधारभूत समानता देखना ही दार्शनिक का उचित कार्य है।

रामेश्वर मिश्र 'पंकज'
निदेशक, निराला सृजनपीठ
सी-165/1 प्रोफेसर कॉलोनी
भोपाल-462002

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Print)